आत्मनोमोक्षार्थंजगद्धितायच

विवेक-शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्दभावधाराकीप्रमुखहि मासिक

वर्ष–१८ जुलाई–१९९९ अंक–७

रामकृष्णनिलयम,
जयप्रकाशनगर,
छपरा (बिहार)

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

१७३. डॉ० विनया पेण्डसे, उदयपुर (राजस्थान)
१७४. सन्तोष बोनी, रामवन (जम्मू एवं कश्मीर)
१७५. श्री राजोभाई बी० पटेल, सूरत (गुजरात)
१७६. श्री प्रकाश देवपुरा—उदयपुर (राजस्थान)
१७७. श्री एस० के० मुन्दरा, जामनगर (गुजरात)
१७८. डॉ० मोहन बन्सल, आनन्द (गुजरात)
१७९. अडकिया कन्सलटेन्ट्स, प्रालि० मुम्बई
१८०. सुश्री एस० पी० त्रिवेदी—रोजकोट (गुजरात)
१८१. अद्वैत आश्रम, मायावती—(उ० प्र०)
१८२. श्री शत्रुघ्न शर्मा, फतेहाबाद—(बिहार)
१८३. रामकृष्ण मिशन, शिलांग—(मेघालय)
१८४. श्री त्रिभुवन महतो, राँची—(बिहार)
१८५. रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची—(बिहार)
१८६. श्री आर० के० चोपड़ा, इलाहाबाद—(उ० प्र०)
१८७. श्री श्यामनन्दन सिंह, राँची—(बिहार)
१८८. श्री डी० आर० साहू, रायपुर—(म० प्र०)
१८९. रामकृष्ण मिशन स्कूल, नरोत्तमनगर (अरुणाचल प्र०)
१९०. रामकृष्ण मिशन हॉस्पिटल, इटानगर (अरु० प्र०)
१९१. रामकृष्ण मिशन स्कूल, अलाँग (अरु० प्र०)
१९२. श्री घनश्याम चन्द्राकर, औंधी (म० प्र०)
१९३. श्री भास्कर मढ़रिया, भिलाई (म० प्र)
१९४. स्वामी विरन्तनानन्द, रा.कृ.मि.नरोत्तमनगर (अ.प्र.)
१९५. श्री हरवंश लाल पाहडा, जम्मूतवी (कश्मीर)
१९६. श्री योगेश कुमार जिन्दल, विवेक विहार (दिल्ली)
१९७. डॉ० अखिलेश अग्रवाल—रुड़की, (उ० प्र०)
१९८. श्री अनिल कु० पूनम चन्द जैन—नागपुर (महा०)
१९९. डॉ० शीला जैन—बीकानेर (राजस्थान)
२००. श्री डी० एन० देशमुख—चन्द्रपुर (महाराष्ट्र)
२०१. श्री योगेश कुमार थलिया—नवलगढ़ (राजस्थान)
२०२. रामकृष्ण विवेकानन्द सेवाश्रम—अम्बिकापुर (म.प्र.)
२०३ श्री ओम भक्त बुदाथोपी—डाँग (नेपाल)
२०४. श्री ए० डी० भट्टाचार्य—भद्रकाली (प० बं०)
२०५. हिन्दी विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा
२०६. श्री दीपक कुमार विद्यार्थी—काराधीक्षक, गिरिडी

इस अंक में

		पृष्ठ
१. श्रीरामकृष्ण ने कहा है		१
२. श्री गुरु स्तोत्रम्		२
३. अग्नि-वेणु	स्वामी विवेकानन्द	३
४. अतिचेतन-अनुभूति का लक्ष्य	स्वामी यतीश्वरानन्द	६
५. श्री माँ सारदा सन्देश-सुधा		१३
६. श्री गुरु	स्वामी श्रीकृष्णानन्द	१४
७. स्वामी विवेकानन्द और महावीर हनुमान (४)	स्वामी शशांकानन्द	१८
८. चरित्र निर्माण का उपाय	स्वामी आत्मानन्द	२३
९. मैं हूँ आत्मा (कविता)	रामानुज प्रसाद	२५
१०. साधक के प्रश्न : स्वामी ब्रह्मेशानन्द के उत्तर		२६
११. भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता	कु० गौरी त्रिवेदी	२८
१२. चार आदर्श पुरुषार्थ		३०

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो ।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की हिन्दी मासिकी

वर्ष—१८ जुलाई—१९९९ अंक—७

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'।।

सम्पादक :

डा० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक :

ब्रजमोहन प्रसाद सिन्हा

सम्पादकीय कार्यालय :

विवेक शिखा
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर
छपरा—८४१३०१
(बिहार)
फोन : ०६१५२-२१६३९

सहयोग राशि :

आजीवन सदस्य— ७०० रु०
वार्षिक— ५० रु०
रजिस्टर्ड डाक से ६५ रु०
एक प्रति— ५ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

☐ जो खुद शतरंज खेलते हैं वे बहुत समय नहीं समझ पाते कि कौन-सी चाल ठीक होगी, परन्तु जो तटस्थ रहकर खेल देखते रहते हैं वे खेलनेवालों की चाल से अच्छी चाल बता सकते हैं। संसारी लोग सोचते हैं कि हम बड़े बुद्धिमान् हैं, परन्तु वे धन-मन, विषय-सुख आदि में आसक्त रहते हैं। वे स्वयं खेल में डूबे रहते हैं, ठीक चाल नहीं समझ पाते। परन्तु संसार-त्यागी साधु-महात्मा विषयों से अनासक्त होते हैं। वे संसारियों से अधिक बुद्धिमान् होते हैं। वे खुद नहीं खेलते, इसलिए अच्छी चाल बता सकते हैं। इसीलिए, धर्मजीवन यापन करना हो तो जो साधु-महात्मा ईश्वर का ध्यान-चिन्तन करते हैं, जिन्होंने उन्हें प्राप्त कर लिया है, उन्हीं की बातों पर विश्वास रखकर चलना चाहिए? यदि तुम्हें मामले-मुकदमें की सलाह चाहिए तो तुम वकील की ही सलाह लोगे न कि किसी ऐरे-गैरे की।

☐ यदि तुम्हारे भीतर ईश्वर के प्रति ठीक-ठीक अनुराग हो, उन्हें जानने की स्पृहा उत्पन्न हो तो वे अवश्य ही वे तुम्हें सद्गुरु से मिला देंगे। साधक को गुरु के लिए चिन्ता नहीं करनी पड़ती।

☐ तुम फिजूल समय क्यों बरबाद कर रहे हो? तुम्हें इन सब बातों (गुरु के बारे में तर्क-वितर्क) से क्या मतलब? तुम्हें मोती चाहिए तो मोती लेकर सीपी को फेंक क्यों नहीं देते? गुरु ने जो मन्त्र दिया है उसे लेकर डूब जाओ, गुरु के गुण-दोषों की ओर मत देखो।

श्री गुरु स्तोत्रम्

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः (१)

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः (२)

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः (३)

स्थावरं जङ्गमं व्याप्तं येन कृत्सनं चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः (४)

चिद्रूपेण परिव्याप्तं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः (५)

सर्वश्रुतिशिरोरत्नसमुद्भासितमूर्तये।
वेदान्ताम्बुजसूर्याय तस्मै श्रीगुरवे नम (६)

चैतन्यं शाश्वतं शान्तं व्योमातीतं निरंजनम्।
बिन्दुनाद कलातीतः तस्मै श्रीगुरवे नमः (७)

ज्ञान शक्ति समारूढः तत्त्वमालाविभूषितः।
भुक्तिमुक्ति प्रदाता च तस्मै श्रीगुरवे नमः (८)

अनेकजन्म सम्प्राप्त कर्मेन्धन विदाहिने।
आत्मज्ञानाग्निदानेन तस्मै श्रीगुरवे नमः (९)

शोषणं भवसिन्धोश्च प्रापणं सारसम्पदः।
यस्य पादोदकं सम्यक् तस्मै श्रीगुरवे नमः (१०)

न गुरोरधिकं तत्त्वं न गुरोरधिकं तपः।
तत्त्वज्ञानात्परं नास्ति तस्मै श्रीगुरवे नमः (११)

मन्नाथः श्रीजगन्नाथो मद्गुरुः श्रीजगद्गुरुः।
मदात्मा सर्वभूतात्मा तस्मै श्रीगुरवे नमः (१)

गुरुरादिरनादिश्च गुरुः परमदैवतम्।
गुरोः परतरं नास्ति तस्मै श्रीगुरवे नमः (१३)

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधी साक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरु तं नमामि (१४)

अग्नि-वेणु

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

अल्मोड़ा,
९ जुलाई १८९७

प्रिय बहन,

तुम्हारे पत्र की पंक्तियों में जो निराशा का भाव झलक रहा है, उसे पढ़कर मुझे बड़ा दुःख हुआ। इसका कारण मैं समझता हूँ। तुम्हारी चेतावनी के लिए धन्यवाद, मैं उसका उद्देश्य भलीभाँति समझ गया हूँ। मैंने राजा अजित सिंह के साथ इंग्लैण्ड जाने का प्रबन्ध किया था, डॉक्टरों की मनाही के कारण, ऐसा न हो सका। मुझे यह सुनकर अत्यन्त हर्ष होगा कि हैरियट उनसे मिली। वे तुममें से किसी से भी मिलकर बहुत प्रसन्न होंगे।

मुझे अमेरिका के कई अखबारों की बहुत-सी कटिंगें मिलीं, जिनमें अमेरिका की नारियों के सम्बन्ध में मेरे विचारों की भीषण निन्दा की गयी है। मुझे यह अनोखी खबर भी दी गयी है कि मैं अपनी जाति से निकाल दिया गया हूँ। मानो मेरी कोई जाति भी थी, जिससे मैं निकाला जाऊँ! संन्यासी की जाति कैसी?

जातिच्युत होना तो दूर रहा, मेरे पश्चिमी देशों में जाने से यहाँ समुद्र-यात्रा के विरुद्ध जो भाव थे, वे बहुत कुछ दब गये। यदि मुझे जाति-च्युत होना पड़ता तो साथ-ही-साथ भारत के आधे नरेशों और प्रायः सारे शिक्षित समुदाय को भी वैसा ही होना पड़ता। यह तो हुआ नहीं, उल्टे मेरे पूर्वाश्रम की जाति के एक विशिष्ट राजा ने मेरी अभ्यर्थना के लिए एक दावत की जिसमें उस जाति के अधिकांश बड़े-बड़े लोग उपस्थित थे। भारत में संन्यासी जिस किसी के साथ भोजन नहीं करते, क्योंकि देवताओं के लिए मनुष्यों के साथ खान-पान करना अमर्यादासूचक है। संन्यासी नारायण समझे जाते हैं, जबकि दूसरे केवल मनुष्य। प्रिय मेरी, अनेक राजाओं के वंशधरों ने इन पैरों को धोया, पोंछा और पूजा है, और देश के एक छोर से दूसरे छोर तक मेरा ऐसा सत्कार होता रहा, जो किसी को प्राप्त नहीं हुआ।

इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जब मैं रास्तों में निकलता था, तब शान्तिरक्षा के लिए पुलिस की जरूरत पड़ती थी! जातिच्युत करना इसे ही कहते होंगे! हाँ, इससे पादरियों के हाथ के तोते अवश्य उड़ गये। यहाँ वे हैं ही कौन? कुछ भी नहीं। हमें उनके अस्तित्व की खबर ही नहीं रहती। बात यह हुई कि अपनी एक वक्तृता में मैंने इंग्लिश चर्च वाले सज्जनों को छोड़ बाकी कुल पादरियों तथा उनकी उत्पत्ति के बारे में कुछ कहा था। प्रसंगवश मुझे अमेरिका की अत्यन्त धार्मिक स्त्रियों और उनकी बुरी अफवाह फैलाने की शक्ति का भी उल्लेख करना पड़ा था। मेरे अमेरिका के कार्य को बिगाड़ने के लिए, इसी को पादरी लोग सारी अमेरिकी स्त्री-जाति पर लांछन कहकर शोर मचा रहे हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि अपने विरुद्ध जो कुछ भी कहा जाय, वह अमेरिका-वासियों को पसन्द ही होगा। प्रिय मेरी, अगर

मान भी लिया जाय कि मैंने अमेरिकनों के विरुद्ध सब तरह की कड़ी बातें कहीं हैं, तो भी क्या वे हमारी माताओं और बहनों के बारे में कही गयी घृणित बातों के लक्षांश को भी चुका सकेंगी ?

ईसाई अमेरिकन नर-नारी हमें भारतीय बर्बर कहकर जो घृणा का भाव रखते हैं क्या सात समुद्रों का जल भी उसे बहा देने में समर्थ होगा ? और हमने उनका बिगाड़ा ही क्या है ? अमेरिका-वासी पहले अपनी समालोचना सुनकर धैर्य रखना सीखें, तब कहीं दूसरों की समालोचना करें। यह सर्वविदित मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जो लोग दूसरों पर गाली-गलौज करने में बड़े तत्पर रहते हैं, वे उनके द्वारा तनिक भी समालोचना सहन नहीं कर सकते। फिर मैं कोई उनका कर्जदार थोड़े ही हूँ। तुम्हारे परिवार, श्रीमती बुल, लेगेट परिवार और दो-चार सहृदय जनों को छोड़कर कौन मुझ पर मेहरबान रहा है? अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने में किसने मेरा हाथ बँटाया ? मुझे परिश्रम करते-करते प्राय: मौत का सामना करना पड़ा है। मुझे अपनी सारी शक्तियाँ अमेरिका में खर्च करनी पड़ीं, केवल इसलिए कि वहाँ वाले अधिक उदार और आध्यात्मिक होना सीखें। इंग्लैण्ड में मैंने केवल छ: ही महीने काम किया। वहाँ किसी ने मेरी निन्दा नहीं की, सिवा एक के और वह भी एक अमेरिकन स्त्री की करतूत थी, जिसे जानकर मेरे अंग्रेज मित्रों को तसल्ली मिली। दोष लगाना तो दूर रहा, इंग्लिश चर्च के अनेक अच्छे-अच्छे पादरी मेरे पक्के दोस्त बने और बिना मांगे मुझे अपने कार्य के लिए बहुत सहायता मिली तथा भविष्य में और अधिक मिलने की पूरी आशा है। वहाँ एक समिति मेरे कार्य की देखभाल कर रही हैं और उसके लिए धन इकट्ठा कर रही हैं। वहाँ के चार प्रतिष्ठित व्यक्ति मेरे काम में सहायता करने के लिए मेरे साथ भारत आये हैं। दर्जनों और तैयार थे और फिर जब मैं वहाँ जाऊँगा, सैकड़ों तैयार मिलेंगे।

प्रिय मेरी, मेरे लिए तुम्हें भय की कोई बात नहीं। अमेरिका के लोग बड़े हैं, केवल यूरोप के होटलवालों और करोड़पतियों तथा अपनी दृष्टि में। संसार बहुत बड़ा है, और अमेरिका वालों के रुष्ट हो जाने पर भी मेरे लिए कोई-न-कोई जगह जरूर रहेगी। कुछ भी हो, मुझे अपने कार्य से बड़ी प्रसन्नता है। मैंने कभी कोई मनसूबा नहीं बाँधा। चीजें जैसे सामने आती गयीं, मैं भी उनको वैसे ही स्वीकार करता गया। केवल एक चिन्ता मेरे मस्तिष्क में दहक रही थी—वह यह कि भारतीय जनता को उन्नत करनेवाले यंत्र को चालू कर दूँ और इस काम में मैं किसी हद तक सफल हो सका हूँ। तुम्हारा हृदय यह देखकर आनन्द से प्रफुल्लित हो जाता कि किस तरह मेरे लड़के दुर्भिक्ष, रोग और दु:ख-दर्द के बीच काम कर रहे हैं—हैजे से पीड़ित अछूतों की चटाई के पास बैठे उनकी सेवा कर रहे हैं, भूखे चाण्डाल को खिला रहे हैं—और प्रभु मेरी और उन सबकी सहायता कर रहे हैं। मनुष्य क्या है ? वे प्रेमास्पद प्रभु ही सदा मेरे साथ है—जब मैं अमेरिका में था तब भी मेरे साथ थे और जब इंग्लैण्ड में था, तब भी। जब मैं भारत में दर-दर घूमता था और जहाँ मुझे कोई भी नहीं जानता था, तब भी वे प्रभु ही मेरे साथ रहे। लोग क्या कहते हैं, इसकी मुझे क्या परवाह ! वे तो अबोध बालक हैं, वे उससे अधिक क्या जानेंगे ? क्या ? मैं जो कि आत्मा का साक्षात्कार कर चुका हूँ और सारे सांसारिक प्रपंचों की असारता जान चुका हूँ, क्या बच्चों की तोतली बोलियों से अपने मार्ग से हट जाऊँ ?—मुझे देखने से क्या ऐसा लगता है ?

मुझे अपने बारे में बहुत कुछ कहना पड़ा, क्योंकि मुझे तुमको कैफियत देनी थी। मैं जानता हूँ कि मेरा कार्य समाप्त हो चुका—अधिक-से-

अधिक तीन या चार वर्ष आयु के और बचे हैं। मुझे अपनी मुक्ति की इच्छा अब बिल्कुल भी नहीं है। और सांसारिक भोग तो मैंने कभी चाहे ही नहीं। मुझे सिर्फ अपने यन्त्र को मजबूत और कार्योपयोगी देखना है, और फिर निश्चित रूप से यह जानकर कि कम-से-कम भारत में मैंने मानव जाति के कल्याण का एक ऐसा यन्त्र स्थापित कर दिया है, जिसे कोई शक्ति नष्ट नहीं कर सकती, मैं सो जाऊँगा और आगे क्या होने वाला है, इसकी परवाह नहीं करूँगा। मेरी अभिलाषा है कि मैं बारम्बार जन्म लूँ और हजारों दुःख भोगता रहूँ, ताकि मैं उस एकमात्र सम्पूर्ण आत्माओं के समष्टिरूप ईश्वर की पूजा कर सकूँ, जिसकी सचमुच सत्ता है और जिसका मुझे विश्वास है। सर्वोपरि सभी जातियों और वर्णों के पापी, तापी और निर्धन रूपी ईश्वर ही मेरा विशेष उपास्य है।

"जो तुम्हारे भीतर भी हैं और बाहर भी, जो सभी हाथों से काम करता है और सभी पैरों से चलता है, जिसका बाह्य शरीर तुम हो, उसी की उपासना करो और बाकी सभी मूर्तियाँ तोड़ डालो।

"जो ऊँचा है और नीचा है, परम साधु है और पापी भी, जो देवता है और कीट है, उस प्रत्यक्ष, ज्ञेय, सत्य, सर्वशक्तिमान ईश्वर की उपासना करो और बाकी सब मूर्तियाँ तोड़ डालो।

"जिसमें न पूर्वजन्म घटित होता है न पुनर्जन्म; न मृत्यु न आवागमन; जिसमें हम सदा एक होकर रहे हैं और रहेंगे, उसी ईश्वर की उपासना करो और बाकी सब मूर्तियाँ तोड़ डालो।

"हे मूर्खो! जीते-जागते ईश्वर और जगत् में व्याप्त उसके अनन्त प्रतिबिम्बों को छोड़कर तुम काल्पनिक छाया के पीछे दौड़ रहे हो! उसी की—उस प्रत्यक्ष ईश्वर की—उपासना करो और बाकी सब मूर्तियाँ तोड़ डालो।"

मेरे पास समय कम है। मुझे जो कुछ कहना है—उससे किसी को पीड़ा हो या क्रोध, इसकी परवाह किये बिना, सब साफ-साफ कह देना होगा। इसलिए प्रिय मेरी, यदि मेरे मुँह से कुछ कड़ी बातें निकल पड़ें तो मत घबराना, क्योंकि मेरे पीछे जो शक्ति है वह विवेकानन्द नहीं, स्वयं ईश्वर है और वही सबसे ठीक जानता है। यदि मैं संसार को खुश करने चला तो इससे संसार की हानि ही होगी। अधिकांश लोग जो कहते हैं वह गलत हैं, क्योंकि हम देखते हैं कि उनके नियन्त्रण से ससार की इतनी दुर्गति हो रही है। प्रत्येक नवीन विचार विरोध की सृष्टि अवश्य करेगा—सभ्य समाज में वह शिष्ट उपहास के रूप में लिया जायेगा और वर्बर समाज में निकृष्ट चिल्लाहट और घृणित बदनामी के रूप में।

संसार के ये कीड़े भी एक दिन तनकर खड़े होंगे, ये बच्चे भी किसी दिन प्रकाश देख पायेंगे। अमेरिकावासी नये मद से मतवाले हैं। हमारे देश पर समृद्धि की सैकड़ों लहरें आयीं और गुजर गयीं। हमने वह सबक सीखा है, जिसे बच्चे अभी नहीं समझ सकते। यह सब झूठी दिखावट है। यह विकराल संसार माया है—इसे त्याग दो और सुखी हो जाओ। काम-कांचन की भावनाएँ त्याग दो। ये ही एकमात्र बन्धन हैं। विवाह, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध और धन—ये ही एकमात्र प्रत्यक्ष शैतान हैं। समस्त सांसारिक प्रेम देह से ही उपजते हैं। काम-कांचन को त्याग दो। इनके जाते हो आँखें खुल जायेंगी और आध्यात्मिक सत्य का साक्षात्कार हो जायगा; तभी आत्मा अपनी अनन्त शक्ति पुनः प्राप्त कर लेगी। मेरी तीव्र इच्छा थी कि हैरियेट से मिलने इंग्लैण्ड जाऊँ। मेरी सिर्फ एक इच्छा और है—मृत्यु के पहले तुम चारों बहनों से एक बार मिलना; मेरी यह इच्छा अवश्य पूरी होगी। तुम्हारा चिर स्नेहाबद्ध

विवेकानन्द

अतिचेतन-अनुभूति का लक्ष्य (१)

—स्वामी यतीश्वरानन्द
अनुवादक—स्वामी ब्रह्मेशानन्द

आध्यात्मिक अनुभूति आवश्यक क्यों है ?

जब हम अपने भीतर गहराई से अवलोकन करते हैं, तो हमें यह जानकर आश्चर्य होता है कि हम अपने से, हम जिसमें निवास कर रहे हैं उस जगत् से तथा हमारे सम्पर्क में आनेवाले लोगों से अत्यन्त असन्तुष्ट हैं। यह असन्तोष तनाव और द्वन्द्व पैदा करता है, जो आज के जगत् में बढ़ता प्रतीत हो रहा है। अस्वाभाविक तनाव और द्वन्द्व देह और मन को रोगग्रस्त करते हैं। चाहे किसी भी कारण से उत्पन्न हुआ अपने बाह्य जीवन की स्थिति से असन्तोष अन्तर्द्वन्द्व पैदा करता है और उसके फलस्वरूप देह और मन अस्वस्थ हो जाते हैं। तब हमारा जीवन निरर्थक और लक्ष्यहीन प्रतीत होता है। यही नहीं, जब हम अपने से असन्तुष्ट होते हैं, तो हम दूसरों में शान्ति के बदले अशान्ति उत्पन्न करते हैं। शारीरिक रोग की तरह मानसिक रोग भी संक्रामक हो सकते हैं।

संभवत: हमें उचित कार्य प्राप्त हो लेकिन हमारा भाव उसके प्रति ठीक न हो। ऐसी स्थिति में हमें अपने कर्म के प्रति नये दृष्टिकोण का विकास करना चाहिये। अथवा संभवत: हम ऐसा कार्य कर रहे हों जिसमें हमारी विशेष क्षमताओं का सदुपयोग नहीं हो रहा हो। तब हम हताश हो जाते हैं और यह नैराश्य विचित्र और प्राय: हानिकारक आचरण को जन्म देता है। शायद हम दूसरों पर बहुत अधिक आश्रित हैं। या फिर हम अपने चारों ओर शत्रुओं की कल्पना करते हैं और काल्पनिक शत्रुओं से लड़ने में अपनी शक्ति क्षय करते हैं। अथवा हम अपने को दूसरों से अलग कर लेते हैं, स्वयं की एक आदर्श धारणा बना लेते हैं और कल्पना जगत में रहने लगते हैं। मानसिक रोग का सबसे बुरा लक्षण है स्वयं से घृणा करना और जब यह दिखाई देता है तब जीवन अत्यन्त दुखदायी हो जाता है।

इसका इलाज क्या है ? इन सारी समस्याओं के बारे में क्या किया जाय ? सुधी मनोविज्ञ कहते हैं कि सुचारु जीवनयापन के लिये किसी लक्ष्य का निर्धारण करने के पूर्व हमें अपने स्वभाव के सम्बन्ध में गहरी समझ होनी चाहिये। अपने प्रति मान्यता को बदलने से हम अपने को भी परिवर्तित कर सकते हैं। और यह नया दृष्टिकोण स्वाभाविक रूप से हमारी ऊर्जाओं को नयी दिशा प्रदान करने से पूर्व ही हो सकता है। अपने सम्बन्ध में दृष्टिकोण का परिवर्तन कैसे करें ? मनोविज्ञ का कथन है कि यह मनो-विश्लेषण द्वारा किया जा सकता है। हमें मनो-विज्ञ द्वारा अपना परीक्षण करवाना चाहिये। वह चतुर प्रश्नों द्वारा हमारे व्यक्तित्व की गहराई को टटोलने का, हमारी छिपी मनोग्रन्थियों को प्रकट करने का प्रयत्न करता है तथा हममें गड़बड़ कहाँ है, यह बताता है। सिद्धान्तत: यह पद्धति ठीक प्रतीत होती है और बहुत से लोगों को मनोविश्लेषण से सचमुच कुछ लाभ भी हुआ है। लेकिन इसकी परिमितता इस बात में है कि मनोविज्ञ का दूसरों का ज्ञान उसकी अपने बारे में जानकारी पर निर्भर करता है, जो प्राय: बहुत कम होती है।

अपने समस्त अनुसन्धानों के बावजूद पाश्चात्य मनोविज्ञ मानव के स्वरूप की गहराइयों

को समझने में असफल रहे हैं। उन्होंने निसंदेह यह पता लगाया है कि मानव का चेतन मन एक अधिक विशाल अचेतन मन द्वारा नियंत्रित होता है और यह कि चेतन और अचेतन मन की गतिविधियाँ कई बार मेल नहीं खाती। चेतन मन में उच्च प्रेरणायें हों, लेकिन अचेतन मन निम्नस्तर वासनाओं से पूर्ण हो सकता है। अचेतन प्रेरणाएँ चेतन चिन्तन और क्रियाओं की विरोधी हो सकती हैं। लेकिन पाश्चात्य मनोविज्ञ चेतन और अचेतन मन के बीच समरसता स्थापित करने के उपायों को खोज निकालने में असफल रहे हैं। अधिकांश मनोविज्ञ अपने रोगियों को अचेतन मन की आवश्यकताओं को पूरा करने की सलाह देते हैं। कुछ लोगों में इससे मानसिक तनाव दूर हो सकता है। लेकिन यह स्थायी नहीं होता, उल्टे अधिक हानिकारक भी हो सकता है।

यहाँ हिन्दू योग पद्धति की उपयोगिता है। योग का प्रारम्भ सर्वप्रथम अचेतन मन को शुद्ध करके उसे चेतन मन के समरस बनाने से होता है। यह कोई कृत्रिम या बनावटी शुद्धि-करण नहीं है। पवित्रता हमारा वास्तविक स्वरूप है। यह मानव की आत्मा का सच्चा स्वरूप है। हिन्दू धर्म ने बहुत काल पहले मानव के व्यक्तित्व के उच्चतर आयाम अर्थात् अतिचेतन अवस्था का पता लगाया था। अतिचेतनावस्था हमें अपनी वास्तविक महान् आत्मा का ज्ञान प्रदान करती है। वह परमात्मा के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करती है। उस प्रकाश के द्वारा हमारे अचेतन मन के अन्धकारमय कक्षों को प्रकाशित करना चाहिये। तब अचेतन मन शुद्ध होता है। तब वह चेतन मन और उसकी आकांक्षाओं के साथ सहयोग करता है। तब अन्तर्द्वन्द्व, संघर्ष और मानसिक तनाव दूर हो जाते हैं। इसलिये अतिचेतन की खोज आन्तरिक शान्ति और सामंजस्य, सन्तुलन प्राप्त करने के लिये सबसे महत्वपूर्ण बात है। अतिचेतनावस्था की खोज प्रथम आध्यात्मिक अनुभूति है। वही चेतन और अचेतन के बीच समरसता पैदा करती है। हमें पूर्ण व्यक्तित्व की, पूर्ण स्वरूप की पुनः उपलब्धि होती है।

आध्यात्मिक अनुभूति अतिचेतनावस्था का ज्ञान ही हमें प्रदान नहीं करती, बल्कि हमारे अचेतन मन की समस्याओं को भी सुलझाती है। हमारी कुछ समस्याएं अचेतन मन में छुपी ग्रन्थियों के कारण होती है। कई लोगों में विशेष कर उनके यौवन के प्रारंभ में काम द्वन्द्वों का कारण हो सकता है। लेकिन मानव के जीवन में उसकी भूमिका को बहुत अधिक महत्व देना निश्चित रूप से गलत है, जैसाकि फ्रायड ने किया है। दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करने की मानव की प्रवल प्रकृति कुछ लोगों में द्वन्द्वों का कारण हो सकती है। लेकिन उसकी भूमिका को अत्यधिक महत्व देकर उसे मानव को सभी समस्याओं के लिये दोषी ठहराना, जैसा डा० एडलर ने अपने मनोविज्ञान दर्शन में किया है, अवश्य गलत है। तथाकथित भौतिकवादी पाश्चात्य-देशों में अपने दीर्घ निवास के समय मेरी ऐसे अनेक लोगों से भेंट हुई जो आध्यात्मिक दृष्टि से भूखे थे। उनकी समस्याएँ अधिकांशतः आध्यात्मिक थी। उनमें से अनेक सामान्य जीवन के सुखों और संघ-बद्ध धर्म की रुढ़िवादी बातों से असन्तुष्ट थे। वे उच्चतर अनुभूति, उच्चतर जीवन-पद्धति को खोज रहे थे।

मनोविज्ञ डा० कार्ल युंग मानव की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को समझने वाले सबसे पहले व्यक्तियों में से एक थे। उन्होंने बताया है कि आधुनिक मानव अपनी आत्मा की खोज में लगा है। लेकिन उनकी रचनाओं से स्पष्ट पता

चलता है कि स्वयं डा० युंग ने अपनी आत्मा को नहीं पाया था। मैं उनसे स्विट्जरलैण्ड में मिला और अपनी कुछ पुस्तकें उन्हें भेंट की। उन्होंने मुझसे अचेतन मन के बारे में बातचीत की। उन्होंने कहा कि हिन्दू जिसे अतिचेतनावस्था कहते हैं, वह अचेतन के अन्तर्गत है। यह एक अजीब सिद्धान्त है। वस्तुत: बात बिलकुल विपरीत है। सामान्यत: हम यह सोचते हैं कि देह सबसे बाहरी है मन उसके भीतर है, और आत्मा अन्तरतम है। हमें इस क्रम को उलट देना चाहिये। आत्मा अनन्त, सर्वव्यापी चैतन्य है। मन उसके भीतर स्थूल देह है जो सीमित है तथा सबसे कम व्यापक है।

अतिचेतन अभी हमारे लिये अज्ञात् है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह मनोविज्ञों का अचेतन मन है। साधना द्वारा उसकी उपलब्धि की जा सकती है। वह परमशान्ति और आनन्द का उत्सव है। सबसे बड़ी बात यह है कि वह मानव को पूर्णता और परमोपलब्धि प्रदान करता है।

डा० युंग मानवों को अर्न्तमुखी और बहिर्मुखी इन दो श्रेणियों में विभक्त करने के लिये प्रख्यात हैं। अर्न्तमुखी व्यक्ति आत्म-निन्दा करता है और बैठे-बैठे सोचा करता है, और अधिकांशत: अपने मन के ही वैयक्तिक जगत् में व्यस्त रहता है; उसके लिये बाह्य जगत् का कर्म क्षेत्र सत्य होता है। ये दो प्रकार एक दूसरे से नितान्त भिन्न नहीं हैं। हम इन दोनों को अपने भीतर पा सकते हैं। वेदान्त में कर्मयोगी, भक्त और ज्ञानी की बात की गई है। लेकिन ये विभाजन जलभेद्य या पूर्ण नहीं हैं। हम सभी में इन सभी के कुछ अंश विद्यमान हैं। हमें अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों में सामंजस्य बिठाने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रशिक्षण के द्वारा हम अपने स्वभाव में विद्यमान इन विभिन्न प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण और सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं और अन्त में उन सबके परे जा सकते हैं। इस तरह हम उत्साह के साथ कर्म कर सकते हैं, उच्च आदर्श के प्रति गहरी भक्ति रख सकते हैं और अपने चिन्तन और कर्म में विचारशील और युक्तिपूर्ण हो सकते हैं। लेकिन इसके लिये संयोजक शक्ति के रूप में तीव्र आध्यात्मिक पिपासा होनी चाहिये।

"मानसिक तनाव से छुटकारा" (Release from Mental Tension) नामक एक पुस्तक में उसके लेखक डा० फिंक तनाव दूर करने का एक सकारात्मक तरीका बताते हैं। वे कहते हैं कि पहले सिर और गरदन उसके बाद घुटने और पैर, सीना, बाहें, नेत्र-पलक इत्यादि सारे शरीर के अंगों को ढीला करते जाओ। (डेविड हारोल्ड फिंक, कृत रिलीज फ्रॉम नरवस टेन्शन, न्यूयार्क सिमन एक शूस्टर १९४३, पृ० ६७-७२)। टुकड़ों-टुकड़ों में किये गये इस तनाव-दूरीकरण का कुछ लाभ अवश्य होता है, लेकिन हमारे आचार्य हमें बताते हैं कि आत्म-विश्लेषण और ध्यान द्वारा हम अपने समग्र व्यक्तित्व पर नियंत्रण करना सीख सकते हैं। अपने अंगों को एक-एक करके ढीले करने की तुलना में तनाव दूर करने का यह कहीं अधिक प्रभावशाली और दीर्घ स्थायी उपाय है।

एक-एक अंग से अपने को कष्टपूर्वक मुक्त करने की क्या आवश्यकता, जब हम उचित प्रशिक्षण द्वारा मन को काबू में करके आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं, जो हमें एक ही बार में मुक्त कर देगी? मुझे एक कंजूस की कहानी याद आ गई। वह मृत्यु शैया पर था और एक धर्म-पुरोहित (पादरी) उसका "भाव" करने के लिये आया। लोभी होने के कारण पादरी ने निश्चय किया कि वह एक-एक अंग का "भाव" करेगा और प्रत्येक रक्षित अंग के लिये शुल्क

वसूल कर लेगा। अंत में जब वह दाहिने पैर तक पहुँचा तो पादरी ने सोचा, "अब मैं इससे एक बड़ी रकम वसूल करूँगा क्योंकि इसके बाद तो यह हमारे हाथों से छूट जायेगा।" अतः उसने कंजूस से ऊंची आवाज में कहा। "अब मैं तुम्हारे दाहिने पैर के लिये एक बड़ी रकम मांगने वाला हूँ।" हिसाबी बुद्धि वाले मरणासन्न व्यक्ति ने अपनी सारी शक्ति एकाग्र कर कहा, "लेकिन पुरोहित जी, वह तो लकड़ी का पैर है।" धर्माचार्य गण मानव के एक-एक अंग की रक्षा के बारे में कुछ भी क्यों न कहें, सच्चे आध्यात्मिक आचार्यों के पास मुक्ति का एक अधिक प्रभावशाली न्याय है। परमात्मा की अपरोक्षानुभूति कर आत्मा की मुक्ति का यह आदर्श ही वह उपाय है। आध्यात्मिक अनुभूति समग्र व्यक्तित्व का रूपान्तरण कर देती है। गहरी शान्ति और आनन्द से आत्मापूर्ण हो जाती है और इससे शरीर और मन पूरी तरह तनाव रहित हो जाते हैं।

दर्शन—प्रत्यक्ष और परोक्ष

'Religion' 'रिलीजन' के लिये संस्कृत शब्द 'दर्शन' उपयुक्त है। इस 'दर्शन' शब्द के दो अर्थ हैं। इसका अर्थ है देखना या साक्षात्कार। उस साक्षात्कार को प्राप्त कराने वाला मार्ग अथवा साधन-पद्धति भी दर्शन कहलाती है। रिलीजन (धर्म) के दोनों ही अर्थ हैं। दर्शन शब्द का अर्थ फिलासाफी भी होता है। हिन्दू धर्म में षट्दर्शन हैं, और ये सभी 'दर्शन' कहलाते हैं।

हिन्दू धर्म में धर्म और दर्शन एक दूसरे से अविभाज्य और पर्यायवाची रहे हैं। सत्य का प्रज्ञा-जन्य ज्ञान प्राप्त करना उनका एक सामान्य लक्ष्य होने के कारण वे एक दूसरे के परिपूरक हैं। जैसा प्रोफेसर मैक्समूलर ने सत्य ही कहा है कि एकमात्र भारत में ही इन दोनों का सामंजस्य रहा है, जहाँ धर्म, दर्शन से दृष्टिकोण की उदारता और दर्शन, अपनी आध्यात्मिकता धर्म से प्राप्त करता है। धर्म दर्शन का व्यावहारिक रूप है तथा दर्शन धर्म का बौद्धिक पक्ष है। भारतीय दार्शनिक मूलतः आध्यात्मिक-अनुभूति संपन्न व्यक्ति थे। अतः अतीन्द्रिय अनुभूतियों पर आधारित होने के कारण उनकी दर्शन-पद्धतियों का निष्ठा और भक्ति के साथ अनुसरण करने पर उसी एक लक्ष्य की प्राप्ति होती थी।

व्यक्तित्व और वातावरण का सतत् आदान-प्रदान और संघर्ष ही जीवन है। व्यक्तित्व के अनेक स्तर हैं, उसी तरह वातावरण के भी हैं। स्थूल शरीर स्थूल जगत् के साथ सम्बद्ध है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म जगत् के संस्पर्श में है। आध्यात्मिक शरीर अथवा आत्मा विराट्-आत्मा या भगवान् के संस्पर्श में है। व्यक्तित्व इन सभी विभिन्न स्तरों पर अनुभव प्राप्त कर सकता है। हम जिस स्तर पर रहते हैं, उसी स्तर विशेष के अनुभवों को सत्य समझते हैं। जाग्रतावस्था में हम अनेक बातों को देखते हैं जो हमारे ध्यान को पूरी तरह आकृष्ट कर लेती हैं। स्वप्नावस्था में भी हमें बहुत-सी चीजें दिखाई देती हैं, जो स्वप्न रहते तक सत्य प्रतीत होती हैं। यह सब देखना, "दर्शन है" लेकिन यह आवश्यक नहीं कि यह सत्य हो। अतः सत्य दर्शन को मिथ्या दर्शन से पृथक करना हमारा प्रस्तुत कार्य है। भारतीय दर्शन-शास्त्र में यथार्थ ज्ञान के मापदण्डों के बारे में बहुत विचार किया गया है। वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों के स्वरूप के सम्बन्ध में जानना चाहता है। वह भी अपने द्वारा प्रत्यक्षीकृत तथ्यों की सत्यता को प्रयोग द्वारा सिद्ध करता है। मनोविज्ञ के पास भी अपना "दर्शन" है। वह अपनी अन्तदृष्टि द्वारा वैचारिक जगत् के नियमों का अन्वेषण करता है। साधक ईश्वर अथवा चरम-सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। यही अपरोक्षानुभूति कहलाती है।

हम अपने इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को बहुत अधिक महत्व देते हैं। हम सोचते हैं कि हम बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। कभी नहीं। बाह्य पदार्थों से संवेदन नेत्रों तक पहुँचता है। वहाँ से सन्देश मन तक पहुँचाया जाता है, और उसके बाद ज्ञाता आत्मा तक। यह कितनी टेढ़ी प्रक्रिया है। और इसे ही हम 'प्रत्यक्ष' कहने के आदी हैं। वास्तविक प्रत्यक्ष या अपरोक्षानुभूति में सत्य आत्म-ज्योति के द्वारा प्रकाशित होता है। यह अन्तर्ज्योति मन और इन्द्रियों के माध्यम से प्रकाशित होती है। वह अपने आप भी प्रकाशित हो सकती है। यही अतिचेतनावस्था है। उसे तुरीय भी कहा जाता है। सामान्यतः हमारे अनुभव जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति चेतना के इन तीन अवस्थाओं में होते हैं। तुरीयावस्था इन तीन अवस्थाओं से भिन्न चतुर्थ-अवस्था है। वह वस्तुतः इन तीन अवस्थाओं की तरह की एक अवस्था नहीं है। वह एक प्रकार की सर्वातीत चेतना है जिसकी अन्य तीन अवस्थाएँ आंशिक अभिव्यक्तियाँ हैं। उस अवस्था में आत्मा को यह अनुभूति होती है कि वह परमात्मा का अंश है।

पुस्तकीय ज्ञान की अपर्याप्तता—

पुस्तकें पढ़कर किसी भी साधना का प्रारंभ नहीं करना चाहिये। हम जानकारी प्राप्त करने के लिये पुस्तकें भले ही पढ़ें, लेकिन हमें यह ज्ञान होना चाहिए कि किन विचारों को ग्रहण करें और किन को त्यागें। हम विभिन्न साधनाओं के बारे में भले ही पढ़, लेकिन यह जाने बिना कि कौन-सी हमारे लिये उपयोगी है; उनको अपनाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। विभिन्न मार्गों की जानकारी हमारे दृष्टिकोण को उदार बना सकती है। लेकिन हमारे लिये उपयुक्त मार्ग की जानकारी हमें होनी चाहिये। आध्यात्मिक जीवन की प्रारंभिक अवस्था में, जो प्रायः प्रयोग का काल होता है, हममें हो रहे मानसिक और शारीरिक परिवर्तनों का अवलोकन करते हुए तथा उनके अनुरूप सामंजस्य स्थापित करते हुए हमें धीरे-धीरे अग्रसर होना चाहिये।

सही उपाय का गलत व्यक्ति द्वारा अनुसरण करने से बुरा परिणाम होता है। इसलिये यह अपेक्षा की जाती है कि साधक में आवश्यक योग्यताएँ हों। लेकिन आज कल कोई भी व्यक्ति किसी भी पुस्तक को पा सकता है कुछ साधनाओं के बारे में पढ़कर उनको कर सकता है और कष्ट भी उठा सकता है। निर्देश सदा प्रत्येक व्यक्ति के लिये भिन्न होते हैं। एक व्यक्ति का पुष्टिकारक आहार दूसरे के लिये विषतुल्य हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुरूप नियम का पालन करना चाहिये, और अपने शारीरिक और मानसिक वातावरण के साथ अच्छी तरह सामंजस्य स्थापित करना चाहिये। यदि सुदृढ़ नींव पर भवन खड़ा हो तो वह बना रहता है, अन्यथा वह ध्वस्त हो जाता है।

सामान्यतः हम सत्य से प्रेम नहीं करते, लेकिन किसी वस्तु विशेष में अपने से ही प्रेम करते हैं। हम किसी विचार को प्रेम करते हैं, क्योंकि वह हमारा विचार है, इसलिये नहीं कि वह सत्य का प्रतिनिधित्व करता है। और अल्प ज्ञान सदा हानिकारक होता है।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥
(केनोपनिषद् २ : ३)

अर्थात् "भगवान् उसके द्वारा जाना जाता है जो उसे अज्ञात समझता है, और जो यह सोचता है कि उसने भगवान् को जान लिया है, उसके लिये वह अज्ञात होता है।"

श्रद्धावान् और निष्ठावान भक्त के समक्ष भगवान् अपना ऐश्वर्य प्रकट करते हैं। और भक्त

का प्रस्तुत कार्य परमात्मा के साथ सामंजस्य स्थापित करना है। और तब परमात्मा अपनी महिमा उसके सामने प्रकट करते हैं। जिस तरह मानव भगवान् के निकट जाने का प्रयत्न करता है, उसी तरह परमात्मा भी सदा मनुष्य के निकट आने को तत्पर रहता है।

वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों द्वारा किये गये प्रकृति के रहस्यों के बौद्धिक अनुसन्धानों द्वारा सत्य को व्यक्त नहीं किया जा सकता। यदि तुम अपनी बुद्धि द्वारा वस्तुओं के मूल कारण को जानने का प्रयत्न करो तो तुम्हें पता चलेगा कि यह असंभव है। दृश्य जगत् को भेद कर सत्य का साक्षात्कार करने के लिये एक सूक्ष्मतर और तीक्ष्णतर यंत्र की आवश्यकता है। हमारी देह और मन आदि सहित यह समग्र दृश्य जगत सचमुच बड़ा आश्चर्यजनक है; इसमें कोई तुक नहीं है—कम-से-कम ऐसा ही हमें दिखाई देता है। निराकार के साकार रूप धारण करने का क्या कारण है? ये सारी बातें युक्ति और विचार रहित प्रतीत होती हैं, क्योंकि ये युक्ति के परे हैं। माया की इस वैविध्यपूर्ण, बहुविध लीला की कोई व्याख्या संभव नहीं है और सापेक्ष की भाषा में कोई भी आज तक उसे समझा नहीं सका है। इसे तुम ईसाई की भाषा में ईश्वर की इच्छा कहो या हिन्दू की भाषा में भगवान् की लीला या क्रीड़ा कहो, सापेक्ष स्तर पर कोई भी व्याख्या या कारण बताया नहीं जा सकता है। इसे समझाया नहीं जा सकता लेकिन इसका अतिक्रमण किया जा सकता है।

प्रत्येक लक्ष्य का एकमात्र अन्तिम प्रमाण अपरोक्ष-अनुभूति है। यदि सचमुच भगवान् है, तो उसे देखना चाहिये, उसकी अनुभूति होनी चाहिये। केवल सिद्धान्त प्रस्तुत करने से काम कभी नहीं चल सकता। हमें उन लोगों के शब्दों में विश्वास करना चाहिये जिन्होंने उसे देखा है, हमें उनके कदमों पर चलना चाहिये और स्वयं अपने जीवन में उन्हीं अनुभवों को प्रमाणित करना चाहिये। केवल विश्वास से काम नहीं चलेगा, भले ही वह प्रारंभ में आवश्यक हो। और पीर फिर स्वामी विवेकानन्द ने "राजयोग" की प्रस्तावना में कहा है:

...यदि संसार में किसी प्रकार के विज्ञान के किसी विषय की किसी ने प्रत्यक्ष उपलब्धि की है, तो इससे इस सार्वभौमिक सिद्धान्त पर पहुँचा जा सकता है कि पहले भी कोटि-कोटि बार उसकी उपलब्धि की संभावना थी और भविष्य में भी अनन्तकाल तक उसकी उपलब्धि की संभावना बनी रहेगी।...

इसीलिये योग-विद्या के आचार्यगण कहते हैं कि धर्म पूर्वकालीन अनुभवों पर केवल स्थापित ही नहीं, वरन् इन अनुभवों से स्वय सम्पन्न हुए बिना कोई भी धार्मिक नहीं हो सकता। (विवेकानन्द साहित्य प्रथम खंड, प्रथम संस्करण १९६३, अद्वैत आश्रम—पृ० ३७)

भगवत् साक्षात्कार के इस आदर्श को हमें सदा बनाये रखना चाहिये।

अतिचेतन-अनुभूति के स्तर—

इन्द्रिय-विषय भोगों से प्राप्त सुख अनन्त दुःख का जनक है। प्रारंभ में वह अमृत तुल्य हो, लेकिन बाद में वह निराशा और दुःख दायक होता है। (भगवद् गीता १८ : ८) बौद्धिक-आनन्द इससे उच्च कोटि के हैं अवश्य, लेकिन वे हमें परम-सन्तोष या पूर्णता प्रदान नहीं करते। ध्यान करते समय अथवा भगवद् गुण-गान करते समय हमें एक आन्तरिक सुख प्राप्त होता है। यह बहुत अच्छा आनन्द है, लेकिन यह दीर्घकाल नहीं रहता। लेकिन अतिचेतनावस्था में प्राप्त आनन्द साधक के साथ सदा बना रहता है। यही सच्चा

आनन्द है, अन्य आनन्द इसकी छाया मात्र हैं। वह उच्चतर अनुभूति अपनी पूर्णता में प्राप्त न भी होवे, यदि साधक अतिचेतनावस्था के निकट ही पहुँचा हो, फिर भी एक बार अनुभव किये गये आनन्द की स्मृति बनी रहती है और साधक को उच्चतम अवस्था को प्राप्त करने तथा अनन्त-आनन्द का उपभोग करने के लिये बाध्य करती है।

सभी धर्मों की उत्पत्ति अतिचेतनावस्था से हुई है। अतिचेतन-अनुभूति ने बढ़ई के पुत्र जीसस को लाखों लोगों का आराध्य ईसा-मसीह बना दिया। उसने एक गरीब ऊँट-पालक मुहम्मद को इस्लाम का पैगम्बर बना दिया। उसने बौद्धिक-तार्किक द्वन्द्व प्रिय निमाई-पण्डित को भगवत्-भक्ति के अवतार श्रीकृष्ण चैतन्य बना दिया। वर्तमान काल में हम गदाधर चट्टोपाध्याय नामक कलकत्ता के एक मन्दिर के गरीब पुजारी को अतिचेतन-अनुभूति द्वारा सभी धर्मों के समन्वयावतार श्रीरामकृष्ण के रूप में रूपान्तरित होते देखते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि ये लोग सामान्य मानव नहीं थे।

हममें से बहुतों ने भगवान् का नाम सुना है, लेकिन वस्तुतः हम यह नहीं जानते कि उस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है। साधना के द्वारा कुछ लोगों को भगवान् की झलक मिल सकती हैं। और कुछ ऐसे लोग होते हैं जो इन क्षणिक झलकों से सन्तुष्ट नहीं होते। वे अपने भीतर गहरे पैठते हैं और परमात्मा का अपनी आत्मा की भी परम-आत्मा के रूप में आविष्कार करते हैं। जिस प्रकार आत्मा देह में रहती है, उसी प्रकार भगवान सभी जीवों में उन्हें नियंत्रित करते हुए किन्तु उनसे निर्लिप्त होकर रहता है। भगवान् सर्वान्तरयामी भी हैं और सर्वातीत भी। भक्त भगवान् के साथ विभिन्न सम्बन्ध स्थापित करके उनके संस्पर्श के आनन्द का उपभोग करता है। जब यह कहा जाता है कि भक्त भगवान को स्वामी, सखा, माता या प्रियतम समझता है, तो इसे स्थूल अर्थ में नहीं समझना चाहिये। स्वामी विवेकानन्द ने, "धर्म को शाश्वत आत्मा का शाश्वत, ब्रह्म से शाश्वत सम्बन्ध कहा है। (विवेकानन्द साहित्य चतुर्थ खंड, १९६३—पृ० १८९) यही भाव मानव सम्बन्धों के माध्यम से प्रकट किया गया है।

लेकिन कुछ लोग इस अवस्था का भी अतिक्रमण कर जाते हैं। वे ब्रह्म में समस्त जीव-जगत् के एकत्व की अनुभूति करते हैं। आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है तथा एक-मेवअद्वितीय ही बचा रहता है। श्रीरामकृष्ण एक कथा के माध्यम से इसे बहुत सुन्दर ढंग से समझाते हैं: "एक बार एक नमक का पुतला सागर की गहराई नापने गया। नापते समय वह स्वयं गल कर उसी सागर के साथ एकाकार हो गया, जिससे वह उत्पन्न हुआ था।" (श्रीरामकृष्ण वचनामृत, रामकृष्ण मठ, नवम संस्करण १९९२, पृ० २९)।

अतिचेतनावस्था की प्रत्यक्ष अनुभूति करने वाला ऋषि अथवा द्रष्टा कहलाता है। प्रत्येक व्यक्ति एक प्रकार द्रष्टा है। इन्द्रिय विषयों को देखने वाला भी द्रष्टा है। सुदूर ग्रह-नक्षत्रों को देखने वाला भी द्रष्टा है। दूसरों के विचारों को जानने वाला भी द्रष्टा है। मानव मन की गति-विधियों और चिन्तन के नियमों को जानने वाला भी द्रष्टा है। लेकिन इन सभी से भिन्न, ऋषि शब्द का उपयोग उस व्यक्ति के लिये किया जाता है जिसने सर्वातीत, अतिचेतन, सत्य का प्रज्ञा द्वारा अनुभव किया है। यह प्रज्ञा-शक्ति जिसे भगवत् गीता में "दिव्य-चक्षु" कहा गया है, सभी में प्रसुप्त रूप से विद्यमान रहती है या अविद्या के मद में सत्य कल्पना से भी अधिक असत्य प्रतीत होता है।

एक शराबी चिल्लाते हुए एक बिजली के खम्भे पर बड़ी जल्दबाजी में चढ़ रहा था। स्वाभाविक ही पुलिस उसे पकड़ कर न्यायाधीश के सामने ले गई जिसने उससे पूछा : "यह सब क्या हो रहा था ?" उसने उत्तर दिया : "हुजूर, मैं क्या करता ? तीन मगर मेरा पीछा कर रहे थे। मुझे जान बचाने के लिये खम्भे पर चढ़ना पड़ा।" नगर की सड़क पर मगर ! शराब के नशे में उसने यही देखा। अविद्या के कारण हम भी ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ देखते हैं, जिनकी वास्तविक सत्ता नहीं होती।

अविद्या पर विजय पाकर अतिचेतनावस्था को कैसे प्राप्त करें, यह अगला प्रश्न है। अविद्या यों ही नहीं जानी जा सकती। वह अनेक प्रकार से व्यक्त होती है। सर्वप्रथम है अहंकार या अस्मिता। यह वास्तविक आत्मा को आवृत कर देती है। इसके बाद राग अथवा आसक्ति उत्पन्न होती है। जब इन्हें दबाया जाता है या इनकी पूर्ति नहीं होती तो क्रोध और भय उत्पन्न होता है। मानव अविद्या, अहंकार और सहजात प्रवृतियों द्वारा संसार से आबद्ध रहता है। आधुनिक मनोविज्ञ ग्रन्थियों की बात करते हैं। एक वर्गीकरण के अनुसार तीन प्रकार की मनोग्रन्थियाँ होती हैं: यौन-मनोग्रन्थि, अहंकार-मनोग्रन्थि और समूह-मनोग्रन्थि। इन ग्रन्थियों की पकड़ से निकलने का उपाय जाने बिना आध्यात्मिक जीवन का प्रारंभ ही नहीं हो सकता। आध्यात्मिक संघर्ष का यह अर्थ है। सहजात प्रवृतियों के बन्धन से मुक्ति पाना एक दिन में संभव नहीं है। हम ही अपनी बाधाएँ हैं; अपने द्वारा पैदा की गई आन्तरिक बाधाओं की तुलना में बाह्य बाधाएँ कुछ भी नहीं हैं। हमारे समग्र व्यक्तित्व का परिवर्तन करना होगा। यह कैसे किया जाय ? विश्व के विभिन्न धर्मों के साधकों ने इसके बहुत से मार्ग हमारे लिये खोज निकाले हैं।

श्री माँ सारदा सन्देश-सुधा

☐ ठाकुर तुम्हारे रक्षक रहेंगे। तुम्हें उन पर निर्भर रहकर जीना चाहिए। अगर वे तुम्हारा कल्याण करना चाहें तो उनकी इच्छा पूरी होने दो। उन्होंने तुम्हें जो शक्ति प्रदान की है उसके अनुरूप तुम्हें सदैव उचित कार्य ही करना चाहिए।

☐ हमारे ठाकुर बहुत लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे। ईश्वर के प्रति भक्ति होना ही सार वस्तु है। इस बार पृथ्वी पर ठाकुर का आविर्भाव गरीब-धनी, पण्डित-मूर्ख सभी के उद्धार के लिए हुआ है। मलय पवन यहाँ जोरों से प्रवाहित हो रहा है। जो अपना पाल थोड़ा-सा भी खोलेगा और ठाकुर के प्रति शरणागत होगा, वह धन्य हो जायगा।

☐ सब कुछ मन पर निर्भर है। बिना मन की शुद्धता के कुछ भी पाया नहीं जा सकता। कहा गया है, "गुरु, कृष्ण, वैष्णव तीन की दया हुई। एक की दया बिना जीव की दुर्गति हुई।" यह 'एक' मन ही है। साधक के मन को दयालु होना चाहिए।

☐ गुरु के प्रति भक्ति होनी चाहिए। गुरु का स्वभाव चाहे जैसा हो, किन्तु यदि शिष्य के हृदय में गुरु के प्रति अटल भक्ति है, तो उसे मुक्ति मिलेगी ही।

☐ उस ईश्वर को पुकारो जो सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। वह तुम पर अपनी कृपा की वर्षा करेगा।

श्री गुरु

—स्वामी श्रीकृष्णानन्द
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द सोसाइटी, जमशेदपुर

ॐ नमोस्तु ते व्यास विशालबुद्धे
फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र
येन त्वया भारत तैलपूर्णः
प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः…
गीता का ध्यान-२

हे महामहिम व्यासदेव, आपके नयनयुगल खिले हुए कमल की पंखुड़ी के समान विशाल हैं। आपने महाभारत रूप तैलपूर्ण ज्ञान युक्त प्रदीप जलाया है, आपको मेरा प्रणाम !

हिन्दू धर्म के आदिगुरु व्यासदेव, जिन्होंने हिन्दू धर्म की रक्षा, हिन्दू धर्म के मूल तत्त्व की व्याख्या, वेद का सुन्दर विश्लेषण उपनिषद् के कर्मकाण्ड और ज्ञान का विश्लेषण, ब्रह्मसूत्र और महाभारत की रचना की है, उस परमगुरु व्यासदेव को प्रणाम !

भारत के आध्यात्मिक इतिहास की पर्यालोचना करने से देखा जाता है कि आध्यात्मिक जगत में गुरु को एक विशेष स्थान प्राप्त है। भारतीय दर्शन-शास्त्र में जितनी साधन-पद्धति की बातें लिखी गई हैं, उन सभी में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान है। आत्म-विस्मृत मनुष्य में अध्यात्म चेतना जाग्रत करने के लिए भगवान स्वयं मनुष्य का शरीर धारण कर पृथ्वी पर आते हैं यह सर्वविदित है।

गीता में स्वयं भगवान ने कहा है—
"धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे"

नर रूपी यही ईश्वर अपने जीवन में कठोर साधना के द्वारा शास्त्रवर्णित गूढ़ तत्त्व की प्राप्ति कर एवं उसी के समान अपना जीवन व्यतीत करते हैं। साधनोपलब्ध शक्ति के द्वारा वे मनुष्य को भगवोन्मुखी कर मनुष्य जीवन की परम उपलब्धि ईश्वर को प्राप्त करा देते हैं। यही शक्ति अथवा ज्ञान शिष्य परम्परा द्वारा मनुष्य के निकट उपस्थित होकर बहुत वर्षों तक मनुष्य का कल्याण करती है। यही शक्ति मनुष्य के निकट उपस्थित होकर मनुष्य को गुरु का स्थान प्राप्त कराती है। अतएव ईश्वर ही गुरु रूप में मनुष्य को संसार रूपी अंधकार से मुक्त कर अपने स्वरूप में स्थापित करते हैं। अत: गुरु ही ईश्वर की प्रतिमूर्ति और शक्ति के आधार हैं, तभी तो गुरु गीता में कहा गया है—

गुशब्दश्चान्धकार स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः
अन्धकार: निरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते। २०

'गु' शब्द का अर्थ अंधकार एवं 'रु' का अर्थ अंधकार का नाशक या निरोधक हैं। अत: जो अंधकार का नाश कर दिव्य लोक में ले जाते हैं वही गुरु हैं।

अतएव जिन्होंने गुरु का पद प्राप्त किया हैं, वे निश्चय ही शास्त्र का मर्म समझ कर ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किए हैं और अपने जीवन को उसी के अनुरूप निर्माण किए हैं, तभी तो शास्त्र में गुरु को "श्री त्रिय" अर्थात् वेद ज्ञाता

और 'ब्रह्मनिष्ठ' अर्थात् आत्मज्ञानी कहा गया है। जिन्होंने शास्त्रोक्त सभी साधनाओं के द्वारा सिद्धि प्राप्त की हैं, वही गुरु हैं। भगवान श्री शंकराचार्य ने अपने विवेक-चूड़ामणि में चारों साधनाओं का वर्णन इस रूप में किया है—

आदौ नित्यानित्य वस्तु विवेकः परिगण्यते
इहामूत्र फल भोग विरागस्तदनन्तरम् ॥
शमादिष्टक सम्पत्तिम् मुक्षुत्वमिति स्फुटम् ॥
१६ विवेक चूड़ामणि

नित्य अनित्य वस्तु का ज्ञान अर्थात् ब्रह्म सत्य, जगत "मिथ्या" यही ज्ञान इसका मूलमंत्र है। भोग विराग अर्थात् अपने शरीर से ब्रह्मा के शरीर तक अनित्य भोग-वस्तु समूह का दोष-दर्शन, वैराग्य, शमदमादि सम्पत्ति और मुक्ति की इच्छा—इन सभी उपायों द्वारा जिन्होंने सभी सिद्धियाँ प्राप्त की हैं, उन्हीं को गुरु पद प्राप्त हुआ है। गुरु एवं शिष्य का संबंध अत्यन्त गूढ़, पवित्र और मधुर है। इस पृथ्वी पर इस प्रकार के गुरु और शिष्य प्राप्त होना अति दुर्लभ है।

कठोपनिषद में लिखा है—
आश्चर्यो वक्ता कुशोऽस्य लब्धा ॥
आश्चर्यो अस्य ज्ञाता कुशलानुशिष्टः-२७

इस भगवद् तत्त्व की जो व्याख्या करते हैं, वैसे व्यक्ति दुर्लभ हैं। जो इस व्याख्या को सुनकर उसका सही अर्थ हृदयंगम करते हैं वे भी दुर्लभ हैं। आत्मदर्शी गुरु के पास विद्या प्राप्त कर शिष्य ही आत्म तत्त्व का गूढ़ अर्थ उपलब्ध करते हैं।

अब हमलोग श्रीरामकृष्ण के प्रसंग में आते हैं। श्रीरामकृष्ण एक दिन दक्षिणेश्वर में झाउतला के पास से आते थे। इसी समय एक मेढ़क की करुणपुकार सुनकर झाड़ी के पास जाकर देखते हैं कि एक डोंड़ साँप ने एक मेढ़क को पकड़ा है किन्तु वह न तो उस को निगल पाता है, न छोड़ पाता है। इससे मेढ़क को अत्यन्त कष्ट होता है, उसकी मृत्यु भी नहीं हो पाती है, तभी श्रीरामकृष्ण ने हृदय को पुकार कर कहा—"रे हृदु! यदि गेहुँअन साँप भेक को पकड़ता तो तीन ही आवाज में वह चुप हो जाता। इसको डोंड़ साँप ने पकड़ा है, तभी इतना कष्ट पा रहा है। इस प्रसंग में श्रीरामकृष्ण ने और भी कहा है—

"यदि सद्‌गुरु मिल जायें तो जीव का अहंकार तीन बोली में ही दूर हो जाता है। गुरु पक्का नहीं होने से गुरु को भी कष्ट एवं शिष्य को भी कष्ट होता है। शिष्य का न तो अहंकार दूर होता है, न वह संसार बंधन से ही मुक्त होता है।

श्रीरामकृष्ण के जीवन में देखा जाता है कि गुरु के रूप में श्रीरामकृष्ण ने अपने शिष्य—"श्री रामकृष्ण वचनामृत (कथामृत)" के लेखक श्री 'म' के अहंकार को तीन बार में हो दूर कर दिया था।

श्री 'म' एक उच्च शिक्षित व्यक्ति तथा उच्च विद्यालय के प्रधानाध्यापक थे। बहुत पुस्तकों का उन्होंने अध्ययन किया था। अतएव वे ज्ञानी थे। सामाजिक प्रथानुसार वे सामाजिक बंधन में बंधे थे एवं संतान के पिता भी थे। श्रीरामकृष्ण के साथ प्रथम साक्षात् एवं परिचयादि के बाद श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा—तुम्हारा क्या विवाह हुआ है?" उत्तर में श्री 'म' ने कहा—"जी, हाँ! यह सुनकर श्रीरामकृष्ण के कहा—"अरे रामलाल! विवाह कर लिया है।" फिर पूछा—"क्या तुम्हें लड़का भी हुआ है।" उत्तर में 'म' ने कहा—"हां, लड़का हुआ है।" श्रीरामकृष्ण ने फिर कहा—"जा लड़का भी हो गया है।" श्री 'म' ने उस दिन श्रीरामकृष्ण के इस आक्षेप को नहीं समझा। आगे चलकर साधना पथ में आजीवन ब्रह्मचर्य पालन का विधि-विधान है।

उनको श्रीरामकृष्ण के इस आक्षेप का अर्थ समझने में मदद मिली थी। यही था श्री 'म' को श्रीरामकृष्ण का प्रथम आघात।

द्वितीय आघात में श्रीरामकृष्ण ने श्री 'म' से पूछा—अच्छा तुम्हारा परिवार (पत्नी) कैसा है ? विद्या शक्ति या अविद्या शक्ति। श्री 'म' ने कहा—"अच्छी है किन्तु अज्ञानी है।" श्री 'म' यह समझाना चाहते थे कि अशिक्षित है अर्थात् विशेष पढ़ी-लिखी नहीं है। श्री 'म' की यह धारणा थी कि पुस्तक द्वारा प्राप्त विद्या पाने वाले को ही ज्ञानी कहा जाता है। यह सुनकर श्री श्रीरामकृष्ण ने झुंझलाते हुए कहा—"और तुम ज्ञानी है।" श्रीरामकृष्ण के मुँह से ईश्वर को जानना ज्ञान और ईश्वर को नहीं जानना अज्ञान है। यह सुनकर श्री 'म' को दूसरा आघात लगा। कारण पुस्तक द्वारा प्राप्त ज्ञान लाभ वाले को ज्ञानी कहने की जो धारणा 'म' को थी, वह दूर हो गई।

श्रीरामकृष्ण ने 'म' से तीसरी बार पूछा—अच्छा तुम्हारा साकार में विश्वास है कि निराकार में।"

श्री 'म' ने कहा—"जी, निराकार।" मुझे यही अच्छा लगता है। श्रीरामकृष्ण—ठीक है, एक में विश्वास करने से ही हुआ। निराकार में विश्वास ठीक ही है। तब ऐसा न समझो कि केवल यही सत्य है और सब झूठा है। यही समझो कि निराकार भी सत्य है और साकार भी सत्य है। तुम्हारा जिसमें विश्वास हो, उसी में विश्वास रखो। उस दिन श्रीरामकृष्ण ने श्री 'म' को अंतिम और सार वस्तु बताई थी—

"तुम्हें जिससे ज्ञान, भक्ति हो,
उसी की चेष्टा करो।"

इसके बाद हमलोग पाते हैं कि श्री 'म' श्रीरामकृष्ण के साथ कभी तर्क नहीं करते हैं, बल्कि पूर्णरूप से उनकी शरणागत हो गए हैं। इसके बाद श्री 'म' ने पूछा—किस तरह ईश्वर में भक्ति होती है तथा ईश्वर को क्या देखा जा सकता है ?"

श्रीरामकृष्ण ने कहा—"ईश्वर ही एकमात्र गुरु, कर्ता और पिता हैं। मनुष्य की क्या क्षमता है कि वह दूसरे को संसार बंधन से मुक्त करा सके। जिसकी यह भुवनमोहिनी माया है, वही माया से मुक्त कर सकते हैं। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—

दैवी ह्येषा, गुणमयी मम माया दुरत्यया
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ ७/१४

सत्व गुण प्रधान त्रिगुणमयी मेरी माया को पार करना अत्यन्त कठिन है। जो धर्म-अधर्म सब छोड़कर केवल मेरी शरणागत होकर मेरा ही भजन करते हैं वही माया को पार करते हैं।

जब भगवान नर रूप धारण कर पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं तभी गुरुशक्ति प्रकट होकर मनुष्य समाज का कल्याण करती है, तभी तो श्रीरामकृष्ण कहते हैं—"सच्चिदानन्द ही गुरु हैं। यदि मनुष्य गुरु रूप में चैतन्य करता है तो समझो सच्चिदानन्द ही यह रूप धारण किए है, तभी तो तन्त्र में कहा गया है—

गुरौ मनुष्य बुद्धिस्तु मन्त्रे चाक्षरभावनम्
प्रतिमासु शिक्षाज्ञानम् कुर्वाणो नरकं व्रजेत्

गुरु को यदि केवल मनुष्य समझा जाय, मंत्र को यदि केवल अक्षर समझा जाय, मूर्ति को केवल मिट्टी अथवा पत्थर समझा जाय तो ऐसा समझने वाले व्यक्ति को नरक होता है।

'माँ' कहती है—गुरु की बात में विश्वास कर उसके अनुसार चला जाय तो ईश्वर की प्राप्ति होती है। मंत्र द्वारा शक्ति प्राप्त होती है। गुरु की शक्ति शिष्य में और शिष्य की शक्ति गुरु में प्रवेश करती है। मंत्र द्वारा देह शुद्धि होती है।

इस कच्चा शरीर को पक्का करना होता है। इसीलिए इस शरीर की रक्षा करनी चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—"जो इस संसार माया से पार ले जाते हैं, जो कृपाकार सभी मानसिक आधि-व्याधि नष्ट करते हैं वही वास्तव में गुरु हैं।" गुरु का शिष्य के प्रति एक कर्त्तव्य है. शिष्य का भी गुरु के प्रति एक कर्त्तव्य है। शिष्य गुरु के पास श्रद्धायुक्त होकर, हाथ जोड़कर तथा आत्मजिज्ञासु होकर जाएंगे और सेवा द्वारा गुरु को संतुष्ट कर अपना बना लेंगे। तभी तो भगवान श्रीकृष्ण गीता में अपने श्रेष्ठ और प्रधान शिष्य को कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिनः ४/३४

शिष्य के संबंध में श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं यदि किसी को ठीक-ठीक अनुराग और साधन-भजन के प्रति प्रीति हो तो निश्चय ही उसे सद्गुरु प्राप्त हो जाते हैं। गुरु के लिए साधक को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं होती।

अध्यात्म विद्या गुरुमुखी है। गुरु के मुख से यह विद्या सुननी होती है एवं वहीं सुनी हुई विद्या भक्ति एवं गुरु के निर्देशानुसार साधन द्वारा आत्म तत्त्व की प्राप्ति करनी होती है। इसीलिए गुरु गीता में कहा गया है—

गुरुवक्त्रे स्थिता विद्या गुरु भक्तानुलभ्यते
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन गुरु आराधनम् कुरु ।। १७

स्थूल शरीर रूप में गुरु की सेवा करने का सुयोग जिन्हें प्राप्त हुआ है, वे भाग्यवान हैं, इसमें संदेह नहीं है। किन्तु जिन्हें यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है, वे गुरु के निर्देशानुसार अपने जीवन का निर्माण कर मनुष्य जीवन का उद्देश्य सार्थक कर सकते हैं उनको परम सौभाग्यवान कहा जा सकता है।

अतएव जिनकी कृपा से मनुष्य भवसागर पार होने में सक्षम होते हैं, उस परम गुरु को प्रणाम करता हूँ।

ॐ ब्रह्मानन्दं परम सुखदं केवलम् ज्ञानमूर्त्तिम्
द्वन्द्वातीत गगनसदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम्
एकं नित्यं विमल-मचलं सर्वधी साक्षीभूतम्
भावातीतं त्रिगुणरहितं सदगुरुं तम् नमामि ।।

।। श्रीरामकृष्ण के चरणों में समर्पित ।।

□

भगवान के लिए सब कुछ संभव

किसी समय एक स्थान पर दो योगी भगवत्प्राप्ति के लिए साधना कर रहे थे। एक दिन देवर्षि नारद उस ओर से गुजरे। उन योगियों में से एक ने पूछा, "क्या आप स्वर्ग से आ रहे हैं?" नारद बोले, "हाँ" योगी ने कहा, "अच्छा बताइए तो भला, भगवान् इस समय स्वर्ग में क्या कर रहे हैं।" नारद बोले, "मैंने आते समय देखा कि भगवान् सुई के छेद में से ऊँट और हाथियों को पार करा रहे हैं।" सुनकर योगी ने कहा, "इसमें कोई अचरज नहीं। भगवान के लिए कुछ भी असंभव नहीं!" किन्तु दूसरा योगी बोल उठा, "यह असम्भव है। तुम कभी स्वर्ग में नहीं गए!"

पहला योगी भक्त था। उसमें शिशु की तरह सरल विश्वास था। वह जानता था कि भगवान् के लिए कुछ भी असम्भव नहीं, भगवान् का स्वरूप कोई नहीं जानता।

—श्रीरामकृष्ण

स्वामी विवेकानन्द और महावीर हनुमान–4

(गतांक से आगे)

—स्वामी शशांकानन्द
सचिव
रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची (बिहार)

सम्पूर्ण समर्पण के बिना निष्काम कर्म नहीं होता।

पवनपुत्र हनुमानजी और स्वामी विवेकानन्द इसी पूर्ण समर्पण और निष्काम सेवा के सर्वोच्च उदाहरण हैं। हनुमानजी और अन्य सब वानर माता जानकी जी को खोज में चले।

चले सकल बन खोजत सरिता सर गिरि खोह। रामकाज लयलीन मन बिसरा तन कर छोह॥

हनुमानजी सब बंदरों को लेकर उसी गुफा में घुसे तो भीतर जाकर देखा।

लागि तृषा अतिसय अकुलाने। मिलइ न जल घन गहन भुलाने॥
मन हनुमान कीन्ह अनुमाना। मरन चहत सब बिनु जल पाना॥
चढ़ि गिरि सिखर चहूँ दिसि देखा। भूमि बिवर एक कौतुक पेखा॥
चक्रवात बक हंस उड़ाहीं। बहुतक खग प्रविसहिं तेहि माहीं॥

वनों में, नदियों, तालाबों, पहाड़ों की गुफाओं में अपनी देह की सुध भूलकर भगवान श्रीराम के कार्य में अपने मन को तल्लीन करते हुए वानर सेना माता जानकी को खोजने लगी। राह में यदि कोई मुनिजन मिलते तो उनसे माता जानकी के सम्बन्ध में पूछते। इस प्रकार वनों, पर्वतों में भटक गए। वे इतने थक गए और प्यास से व्याकुल हो उठे कि मानों अब मरने ही वाले हैं। हनुमान जी ने मन में सोचा कि बिना जल पिपासा से मुक्त हुए अब ये सब वानर मर जायंगे। अतः एक पहाड़ पर चढ़कर वे चारों ओर देखने लगे कि कहाँ जल प्राप्त हो। उन्होंने उस समय एक कौतुक देखा। पृथ्वी में एक गुफा है और उसमें बहुत पक्षी आवागमन कर रहे हैं। इससे हनुमानजी को निश्चय हुआ कि इस गुफा में अवश्य ही जल होगा जिसे प्राप्त कर पिपासा शान्त करने ये पक्षीगण आवागमन कर रहे हैं। हनुमान जी वानर सेना को लेकर उसी गुफा में जा पहुँचे। भीतर जाकर देखा एक उत्तम उपवन और तालाब है जिसमें बहुत से कमल के फूल खिले हुए हैं। वहीं एक सुन्दर मन्दिर है, जिसमें एक तपोमूर्ति स्त्री बैठी हैं। दूर से ही सबने उन्हें प्रणाम किया और पूछने पर अपना सब वृत्तांत सुनाया। तपस्विनी ने कहा, पहले जलपान करो और भाँति-भाँति के रसीले सुन्दर फल खाओ फिर उपाय भी हो जायगा। आश्वासन पाकर सबने स्नान किया, मीठे फल खाए और फिर तपस्विनी के पास आए। तब उन्होंने अपनी गाथा सुनायी।

पूर्वकाल में विश्वकर्मा की पुत्री हेमा ने अपने नृत्य से महादेव जी को प्रसन्न कर यह विशाल नगर प्राप्त किया था और उस नगर में वे 1000 वर्ष रहीं। ये देवी उन्हीं की सखी गन्धर्व कन्या

स्वयं प्रभा है। मोक्ष की कामना से वे विष्णु उपासना में रत है। ब्रह्मलोक जाने के समय हेमा ने उनसे कहा था कि तू यहाँ निर्जन वास कर। त्रेता में साक्षात् नारायण दशरथनन्द होकर पृथ्वी का भार हरने के लिए अवतार लेंगे। उस समय कुछ बानर उनकी स्त्री जानकी को खोजते हुए यहाँ आयेंगे। उनका भली प्रकार सत्कार करके तू विष्णु लोक चली जायेगी। हनुमान जी महाराज चकित हो गए। सोचने लगे कि क्या यह नाटक हैं जिसकी कथावस्तु (प्लाट) पहले से ही तैयार है। वे लोकाधारी प्रभु की महिमा समझ गए किन्तु कार्य कैसे बनेगा। तो स्वयंप्रभा ने कहा :

मूदहु नयन बिबर तजि जाहू। पैहहु सीतहि जनि पछिताहू ॥
नयन मूदि पुनि देखहि बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा ॥

तुमलोग आँखें मूँद लो और गुफा को छोड़कर बाहर जाओ तुम सीताजी को पा जाओगे। अब पश्चाताप मत करो।

यहाँ गोस्वामीजी ने साधकों के लिए एक बहुत बड़ा संकेत किया है। जबतक जीव चेष्टाएँ करता है अपने बल पर तब तक केवल क्लान्ति, निराशा और पिपासा ही हाथ लगती है। किन्तु जब सब कुछ ईश्वर पर निर्भर करके करता है इस भाव से कि ईश्वर ही यंत्री हैं मैं तो यंत्र मात्र हूँ। वे मुझे यंत्र बनाकर अपना कार्य कर लेंगे तब ही सहज में ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है। तपस्विनी के उपदेश को मानकर जैसे ही सब बानरों ने आँखें मूँदीं और फिर खोलीं तो देखा समुद्र के तीर पर खड़े हैं।

नरेन्द्र नाथ के जीवन में भी देखा जाता है। अपने पुरुषार्थ के बल पर वह आध्यात्मिक उपलब्धियों को खोजता रहा। पाश्चात्य दर्शनों का अध्ययन किया, इस्लाम व ईसाई धर्मों को पढ़ा, ब्रह्म समाज का सदस्य बना, देवेन्द्रनाथ के पास पहुँचा दर-दर जाकर तत्कालीन धर्म गुरुओं से पूछा, "क्या आपने ईश्वर को देखा है।" जब कोई उत्तर न मिला तो क्लान्त, निराश, अतृप्त मानो बंदरों की तरह प्राण देने वाला था कि उसे दक्षिणेश्वर पर मंडराते हुए सुरेन्द्र मित्र, राम बाबू, गिरीश आदि रूपी बगुलों को देखा और उसने सोचा निश्चय ही यहाँ आध्यात्मिक पिपासा और क्लान्ति को शान्त करने वाला सरोवर है और जब वह उस सरोवर के पास पहुँचा तो उसे चौंका देने वाली वाणी उसने सुनी, "कब से तेरी बाट जोह रहा हूँ। विषयी लोगों के साथ बात करते-करते मेरा मुँह जल गया। अब आज से तेरे समान सच्चे त्यागी के साथ बात करके मुझे शान्ति मिलेगी।" वे सोचने लगे कि क्या मेरा यहाँ आना निश्चित था? उसने प्रश्न किया क्या आपने ईश्वर को देखा है? और उसे उत्तर भी मिला श्रीरामकृष्ण देव के जीवन की अनेक घटनाओं ने नरेन्द्रनाथ को यह अनुभव कराया कि प्रभु अपनी इच्छा या स्पर्शमात्र से शरणागत व्यक्ति को संस्कार बन्धन से मुक्त करके भक्ति दे रहे हैं, समाधिस्थ कर अलौकिक आनन्द का अधिकारी बना रहे हैं अथवा उसकी जीवन गति को इस ढग से आध्यात्मिक मार्ग में चला देते हैं जिससे वह ईश्वर दर्शन प्राप्त कर सदैव के लिए कृतार्थ हो जाता है। नरेन्द्रनाथ को उसके प्रश्न के उत्तर में श्रीरामकृष्ण देव ने उसे यह अनुभव कराया कि उसे तो केवल समर्पण करना है और फिर जैसे बंदरों ने आँख मूँद ली और सागर तट पर पहुँच गए। उसी प्रकार उसने अपने सब प्रयासों को श्रीरामकृष्ण के ऊपर छोड़ दिया और

जो कुछ करना था उन्होंने ही किया। वे अपने स्पर्श से अनुभूतियों के उन स्तरों पर पहुँचाने लगे जहाँ जाना सम्भव न था। उन्हें लगा कि वे आध्यात्मिक उपलब्धियों के समुद्र के तट पर खड़े हैं।

इधर अब समुद्र तट पर देखिए : सिन्धु तीर पर तो आ गए किन्तु यहाँ जानकी जी कहाँ है? निरुत्साहित वानरगण भयभीत होकर सोचने लगे कि अब लौटें तो मृत्युदण्ड और न लौटें तो वैसे ही मृत्यु। सभी दुःख समुद्र में गोता लगा रहे थे। अंगद ने कहा हमसे कि जटायु जी भाग्यशाली है जो प्रभु के काज आए। उसी समय पहाड़ पर बैठे सम्पाती ने वानर सेना देखकर पहले तो सोचा आज मुझे अच्छा भोजन मिलेगा परन्तु जब उन्हें देखकर सब बन्दर खड़े हो गए और अंगद के द्वारा जटायु का प्रसङ्ग उनके कान में पड़ा तब उन्हें चन्द्रमा मुनि के वचन याद आ गये कि अब उनकी शाप से मुक्ति होने वाली है। और उन्होंने वानरों को सूर्य के ताप से अपने पंख जल जाने की गाथा सुनाई।

जवानी में एक बार जटायु और संपाती दोनों भाई आकाश में उड़कर सूर्य के पास चले गए। जटायु सूर्य का तेज न सहने के कारण लौट आए किन्तु संपाती अभिमानी था इसलिए सूर्य के पास चले गए। सूर्य के अपार तेज से संपाती जी के पंख जल गए और वे जोर से चीख मारते हुए पृथ्वी पर गिर पड़े। उनकी चीख सुनकर उस स्थान पर उपस्थित चन्द्रमा नाम के एक मुनि को उन पर बड़ी दया आयी। उन्होंने कृपा कर संपाती को बहुत प्रकार से ज्ञान दिया और उनको देह अभिमान से मुक्त किया। फिर उन्होंने कहा :

त्रेताँ ब्रह्म मनुज तनु धरिही। तासु नारि निसिचर पति हरिही।।
तासु खोज पठइहि प्रभु दूता। तिन्हहि मिलें तैं होब पुनीता।।
जमिहहिं पंख करसि जनि चिंता। तिन्हहि देखाइ देहेसु तैं सीता।।
मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू। सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू।।

चन्द्रमा मुनि ने कहा कि तुम चिन्ता मत करो। त्रेता में भगवान मनुष्य देह धारण करेंगे। उनकी पत्नी को राक्षसराज चुरा लेंगे। उनकी खोज में वे दूत भेजेंगे। उन दूतों से मिलने पर तुम पवित्र हो जाओगे तब तुम्हारे पंख फिर से उग आयेंगे। तुम उन्हें सीता जी की खबर दे देना। इसीलिए संपाती जी ने कहा कि आज मुनि जी की वाणी सत्य हो गई है। अतः जब यह वाणी सत्य हुई है तो तुम्हें भी अब चिन्ता नहीं करनी चाहिए। आप लोगों का आना निश्चित था अब मैं आपको माता जानकी का पता बता देता हूँ। मैं यहाँ से देख पा रहा हूँ कि समुद्र के पार रावण की सोने की लंका में अशोक वाटिका में माता जानकी बंदिनी है। अतः अब चिन्ता छोड़कर, संपाती जी ने कहा कि तुम लोग अब सागर पार त्रिकूट पर्वत पर स्थित लंका में जाओ। संपाती जी उत्साह देते हैं; कि देखना अब यह है कि कौन वह भाग्यशाली धन्य जीवन है जो श्रीराम का कार्य कर सके। ऐसी प्रेरणा देते हुए वे कहते है।

जो नाघइ सत जोजन सागर। करइ सो राम काज मति आगर।।

जो सात योजन समुद्र पार करेगा और बुद्धि निधान होगा वही श्रीराम का काम करेगा। अब सब सोचने लगे यह तो अत्यन्त कठिन कार्य है। क्या हम छोटे-मोटे बन्दर समुद्र पार जा सकते हैं? संपाती जी ने उन्हें बल देते हुए कहा कि भाई यह तो सब प्रभु की कृपा है। वे चाहें तो तुममें से

प्रत्येक इस कार्य को कर सकेगा। यह क्या कम आश्चर्य है कि मेरे जले हुए नष्ट हुए पंखों के स्थान पर नए पंख आ गए। यह तो उनकी महत्कृपा है। संपाती जी ने कहा अरे बाबा समुद्र पार कौन जा सकता है ?

मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा।

मेरी ओर देखकर तुम्हें मन में धैर्य रखना चाहिए। "रामकृपा कस भयउ सरीरा ॥"

यह देखो श्रीराम की कृपा से मेरा शरीर स्वस्थ हो गया है। तुम लोगों के प्रभु कौन है ?

"पापिउ जा कर नाम सुमिरहीं।"

जरा सोचो जिनका नाम स्मरण कर पापी भी "अति अपार भव सागर तरहीं ॥"

इस अपार भव सागर को पार कर जाते हैं। "तासु दूत तुम्ह तजि कदराई।"

उनके दूत होकर तुम संकोच क्यों करते हो ? "राम हृदय धरि करहु उपाई ॥"

श्रीराम को हृदय में धारण कर कार्य कर आओ। इस वाणी से हनुमानजी के मन में एक उत्साह आ गया और शक्ति मिली।

जिस प्रकार भूख प्यास से व्याकुल वानरगण मरना ही चाहते थे उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण की सेना भी समाधिलिप्सु होकर अन्तर्मुखी होकर अमृत पान के लिए व्याकुल थी और निःसंग साधना के आवेग में वे सभी वराहनगर मठ छोड़कर भारत के विभिन्न तीर्थ स्थानों पर भ्रमण करते रहे। कोई-कोई हृषीकेश हरिद्वार इत्यादि स्थानों में कुटी बनाकर अथवा पहाड़ की गुफाओं में रहकर कठोर तपश्चर्या में लग गए। स्वामीजी ने सोचा कि श्रीरामकृष्ण के जिस कार्य के लिए वे एकत्रित हुए थे वह अब उन लोगों से नहीं होगा। अतः वे भी तीर्थभ्रमण पर निकल गए।

स्वामी विवेकानन्द जी प्रतिदिन रात के समय गुप्त रूप से पहाड़ की गुफा में ध्यानमग्न हो गए। उस गुफा में ध्यानमग्न स्वामीजी ने ठीक उसी प्रकार अपने लक्ष्य का संधान पाया जैसा हनुमानजी आदि ने आँख मूँदते ही अपने को समुद्र के किनारे पर पाया। उन्हें यह स्पष्ट हो उठा, "आगत प्राय नवयुग के सम्मुख श्रीरामकृष्ण की वार्ता को पहुँचाना होगा। भावी भारत के उद्बोधन के लिए सत्वरज की मिलन-वेदी पर सेवाधर्म की स्थापना करनी होगी—इससे पूर्व निर्विकल्प समाधि प्राप्त न होगी।" (विवेकानन्द चरित पृ० १६८)

स्वामीजी ने अब परिव्राजक रूप में भारत भ्रमण करते हुए परिव्राजक विवेकानन्द समुद्र तट पर कन्याकुमारी जा पहुँचे। समुद्रतट पर तो पहुँच गए किन्तु अपने प्रभु का कार्य कैसे कार्यान्वित कर पाएँ यह नहीं समझ पा रहे थे। जिस प्रकार से वानर सेना चिन्ता में पड़ गयी और उन्हे यह निराशा हुई कि शायद बिना रामकार्य सम्पन्न किए उन्हें मर जाना होगा, उसी प्रकार स्वामीजी के मन को भी निराशा ने आ घेरा और निराश और दुःख की ज्वाला से तप्त स्वामीजी समुद्र में छलांग मारकर तैरते हुए उस विख्यात चट्टान पर जा पहुँचे जिसे हम 'विवेकानन्द रॉक' के नाम से आज जानते हैं।

एक ओर तो प्रकृत आध्यात्मिकता लुप्त प्रायः हो चुकी है लोग बाह्याचरण बाह्याडम्बर को ही आध्यात्मिकता समझ बैठे हैं और दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता के प्रबल वेग में भारतीय

आध्यात्मिकता वन्दिनी बनी बैठी है माँ जानकी की तरह। और भारत का जन साधारण भूखा नंगा दरिद्र रोगी और दुर्बल होकर आध्यात्मिक भावों को लेने में असमर्थ हो चुका है। अपने धर्म को दोषी समझ असंख्य लोग दूसरे धर्मो को अपना रहे हैं और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में कुछ समाज सुधारकगण पाश्चात्य सभ्यता से स्वेच्छाचारी बनकर नए-नए सम्प्रदायों की स्थापना करने लगे हैं।

स्वामी जी के चित्त दर्पण में भारत का अतीत, वर्त्तमान और भविष्य एक-एक करके प्रतिबिम्बित होने लगा। आध्यात्मिकता का चरम ज्ञान और समृद्धिपूर्ण इस विशाल भारत में ऋषियों की सन्तान भारतवासी को भूखा, दुःखी, रोगी और जीर्ण-शीर्ण देखकर उनका हृदय द्रवीभूत हो उठा और नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो उठी। तीन दिन, तीन रात ध्यानस्थ अवस्था में अश्रुधारा प्रवाहित करते हुए सोचते रहे कि कैसे भारत-भारती का उद्धार हो। कार्य बड़ा कठिन था। कैसे होगा। भगवान श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था, खाली पेट से धर्म नहीं होता इसलिए पहले चाहिए शिक्षा विस्तार, भोजन-वस्त्र की व्यवस्था, अपने पाँव पर स्वयं खड़ा होने के लिए आत्मविश्वास। इस कार्य में अग्रसर होने के लिए प्रथमतः चाहिए मनुष्य और द्वितीय धन राशि। भारत के राजा महाराजा धनी सब पाश्चात्य की ओर मुखापेक्षी होकर बैठे हैं। यहाँ तक कि धर्म के विषय में भी पाश्चात्य का अनुसरण करने लगे हैं। ऐसी परिस्थिति में स्वामीजी को यह संकेत मिला कि उन्हें समुद्र पार जाना होगा और वहाँ जाने से दोनों ही काम बन जायेंगे। एक तो वहाँ से लाखों-लाख भारतवासियों की उन्नति के लिए धनोपार्जन करके लाऊँगा और दूसरी ओर पाश्चात्य देश में अद्वैत वेदान्त का महानिनाद करूँगा जिसकी प्रतिध्वनि भारत के सोये हुए लोगों को जाग्रत कर देगी। जब भारत का अद्वैत वेदान्त पाश्चात्य में स्वीकृत होगा तब ही भारतीय भी उसे स्वीकार करेंगे।

पर यह कैसे सम्भव होगा? उसी बीच में उन्हें यह सूचना मिली की शिकागो में महाधर्म सम्मेलन होने वाला है। ऐसा घोषित किया गया था कि पृथ्वी के सभी धर्म सम्प्रदायों के प्रतिनिधिगण व्याख्याताओं के रूप में सभा में सम्मिलित हो सकेंगे। स्वामी जी के मद्रासी शिष्यों ने स्वामीजी को उस सम्मेलन में जाने का प्रस्ताव रखा। स्वामीजी को भी ऐसा लगा कि सम्भवतः इसी में उनके प्रभु का कार्य सम्पन्न करने की सम्भावना निहित है। स्वामीजी समुद्र पार जाने के लिए तैयार थे परन्तु प्रश्न यह था वे कैसे समुद्र पार करें? कहाँ से धन प्राप्त हो। सर्वधर्म महासम्मेलन में प्रतिनिधित्व करने की अनुमति या प्रवेश पत्र कैसे मिलेगा? वे श्री माँ सारदा देवी के चरणों में उपस्थित हुए। और माँ से वन्दना की "माँ" जब तक गुरु इप्सित कार्य को सम्पन्न न कर लूँगा तब तक नहीं लौटूँगा। तुम आशीर्वाद दो मेरा संकल्प सिद्ध हो।"

(क्रमशः)

'जड़' यदि शक्तिशाली है, तो 'विचार' सर्वशक्तिमान है। इस विचार को अपने जीवन में उतारो और अपने आपको सर्वशक्तिमान, महिमान्वित और गौरवसम्पन्न अनुभव करो। ईश्वर करे, तुम्हारे मस्तिष्क में किसी कुसंस्कार को स्थान न मिले। ईश्वर करे, हम जन्म से ही कुसंस्कार डालनेवाले वातावरण में न रहें और कमजोरी तथा बुराई के विचारों से बचें।

—स्वामी विवेकानन्द

चरित्र-निर्माण का उपाय

—स्वामी आत्मानन्द

हमने बचपन में पढ़ा था—If wealth is lost, nothing is lost; if health is lost, something is lost; if character is lost, everything is lost.—अर्थात् यदि धन नष्ट होता है तो कुछ भी नष्ट नहीं होता, यदि स्वास्थ्य नष्ट होता है तो कुछ अवश्य नष्ट होता है, परन्तु यदि चरित्र नष्ट होता है तो सब कुछ नष्ट हो जाता है। आज हमारा चरित्र नष्ट हो गया है, इसीलिए अच्छी-अच्छी योजनाओं के बावजूद हमारा राष्ट्र खड़ा नहीं हो पा रहा है। स्वार्थ का घुन हमारे पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को खोखला किये दे रहा है। आज आदमी इतना मतलबपरस्त कैसे हो गया, समझ में नहीं आता। हमारा देश तो ऐसा है जहाँ सदैव से नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर बड़ा जोर दिया जाता रहा है। इसके बावजूद हमारे जीवन में नैतिक मूल्यों का जितना अभाव है, उतना उन पश्चिमी देशों में नहीं, जो धर्म तथा आध्यात्मिकता का दिखावा नहीं करते।

इस चरित्रहीनता का कारण खोजना कठिन नहीं है—वह है व्यक्ति का स्वार्थ, उसका लोभ, जो उसके समस्त मानवीय मूल्यों को खत्म कर देता है। चरित्र से तात्पर्य मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता, और मानवीन मूल्यों का अर्थ है एक व्यक्ति का दूसरे के प्रति सहानुभूति और सहयोगिता का भाव। स्वार्थ या लोभ की वृत्ति हमारी इस सहानुभूति और सहयोगिता की भावना का ग्रास कर लेती है। हम इस जीवन की दौड़ में दूसरों को टँगड़ी मारकर या धक्का देकर आगे निकल जाना चाहते हैं, पर यह भूल जाते हैं कि दौड़ में सही अर्थों में जीत तो उसी की होती है, जो दूसरों को दौड़ने में सहायता देता है। यह पाठ हमें प्राचीन काल से पढ़ाया जाता रहा है, परन्तु हम बार-बार भूल जाते हैं और ऐसा लगता है कि आजादी के इन पचास वर्षों में हम इसे एकबारगी भूल गये हैं।

आज हम चारित्रिक संकट के दौर से गुजर रहे हैं। इसमें मानवीय मूल्य नहीं रह जाते हैं, आस्थाएँ एकदम समाप्त हो जाती हैं, व्यक्ति केवल स्वार्थलोलुप रह जाता है और येन-केन-प्रकारेण स्वार्थ की साधना ही अपने जीवन का मूलमंत्र मानता है। हम अपेक्षा करते हैं कि दूसरे सब लोग तो सच्चाई की राह चलें, ईमानदार हों और हम अकेले असत्य की राह चलते हों, बेईमान बनते हों, तो हमें छूट मिलनी चाहिए। हम कैकेयी का दर्शन अपनाना चाहते हैं, जिसने अपने बेटे के लिए तो राजसत्ता का भोग माँगा और दूसरे के बेटे के लिए त्यागरूप बनवास। हम मुँह से त्याग की प्रशंसा तो करते हैं पर चाहते हैं कि दूसरे लोग ही उसे अपनाएँ। हम जबान से भोग की निन्दा तो करते हैं, पर अपने लिए भोग की छूट चाहते हैं। हमारे होठों से बड़ी-बड़ी बातें तो निकलती हैं, पर वे महज दूसरों को सुनाने के लिए होती हैं, हमारे अपने हृदय में उन बातों का कोई स्पन्दन नहीं होता। हम बड़े जोरदार शब्दों में नैतिकता और चरित्र की वकालत करते हैं, इसलिए नहीं कि हम इन गुणों के कायल हैं, बल्कि इसलिए कि लोग हमें सच्चा और ईमानदार मानें। हममें अपने को सच्चा और ईमानदार दिखाने की व्यग्रता होती है, सच्चा और ईमानदार बनने की नहीं। हममें प्रवृत्ति तो झूठ काम करने की है, पर चाहते हैं कि लोग हमें सच्चा कहें। इससे चरित्र का निर्माण कैसे होगा ?

अतः यदि हम चाहते हैं कि हमारा देश अपनी बहुविध समस्याओं का समाधान करते हुए विश्व के मंच पर यशस्वी बन कर उभरे, तो हमें चरित्र-निर्माण पर सबसे अधिक जोर देना होगा। इसके बिना सब थोथा है, विकास और उन्नति की सारी

बात बकवास है तथा धर्म महज दिखावा और पाखण्ड है। चरित्र-निर्माण की पहली शर्त है अनुशासन। कठोर अनुशासन ही चरित्र-रत्न को खरादकर निखारता है। अनुशासन के दो पक्ष हैं—एक है भीतरी, जो हमारी इच्छा से पैदा होता है और यही सही अनुशासन है। दूसरा है बाहरी, जो समाज या राष्ट्र हम पर बाहर से लादता है। अनुशासन के इन दोनों पक्षों को साथ मिलाकर काम करना होगा, शास्त्र और शस्त्र दोनों को मिलकर जीवन में प्रभावी बनना होगा, तब कहीं चरित्र-निर्माण की आशा की जा सकती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपने संयम और ज्ञान के बल पर अपना अनुशासन करते हैं और इस प्रकार अपना चरित्र-बल प्रकट करते हैं। पर बहुत-से ऐसे होते हैं, जिनको अनुशासन में रखने के लिए डण्डे की जरूरत होती है। चरित्र-निर्माण का पाठ इन दोनों को मिलाकर पूरा होता है।

फिर, यह चरित्र-निर्माण ऊपर से नीचे की ओर बहता है। ऊपर यदि सब ठीक है, तो नीचे के लोग भी अपने आप ठीक होने लगते हैं। समाज में आचरण-भ्रष्टता का फैलाव ऊपरी तबकों के लोगों से होता है। वहाँ सुधार की तत्क्षण और प्राथमिक आवश्यकता है। समाज के ऊपर के अंगों का हम इलाज करें, तो नीचे के अंग अपने आप रोगमुक्त हो जाएँगे।

विवेक शिखा की 'संरक्षक'-योजना

विवेक शिखा के प्रकाशन की सुविधा को ध्यान में रखकर 'विवेक शिखा' के 'स्थायी कोष' की एक योजना बनायी गयी है। जो कोई कम से कम १०००/- (एक हजार) रुपये या इससे अधिक रुपये विवेक शिखा के 'स्थायी कोष' के लिए दान देंगे वे इसके संरक्षक होंगे। 'विवेक शिखा' में उनका नाम प्रकाशित होगा और वे यावज्जीवन विवेक शिखा निःशुल्क प्राप्त करते रहेंगे। विवेक शिखा के जो आजीवन सदस्य हैं वे शेष रकम देकर इस पत्रिका के संरक्षक हो सकते हैं। यह योजना केवल भारत के दाताओं के लिए लागू है।

—व्यवस्थापक

संरक्षक-सूची

संरक्षक का नाम	स्थान	रुपये
१. श्रीमती कमला घोष	इलाहाबाद	३,६१०/-
२. श्री नन्द लाल टांटिया	कलकत्ता	१,०००/-
३. श्री हरवंश लाल पाहड़ा	जम्मूतवी	१,०००/-
४. श्रीमती निभा कौल	कलकत्ता	१,०००/-

मैं हूँ आत्मा

—श्री रामानुज प्रसाद
उटकमण्ड

न रंग है पर दिखता हूँ जिसे।
अशब्द है पर सुनता हूँ जिसे।
न रूप है पर छूता हूँ जिसे।
अगंध है पर सूंघता हूँ जिसे।

सबके अन्दर भी परे सबसे।
सब वस्तु भी, परे वस्तु से।
तीन समय भी, परे समय से।
सम्पूर्ण जगत भी, परे जगत से।

दूर से दूर और हृदय के पास।
सूक्ष्म से सूक्ष्म और अज्ञान का प्रकाश।
जन्म मृत्यु से दूर और ज्ञान का प्रकाश।
अव्यक्त और व्यक्त है प्रकृति का आवास।

मैं हूँ आत्मा।

साधक के प्रश्न : ब्रह्मेशानन्द के उत्तर

प्रश्न : ध्यान में इष्ट को सामने देखना अधिक सरल और सहज होता है, लेकिन उसका हृदय में ध्यान करने का निर्देश दिया जाता है। ऐसा क्यों ?

उत्तर : हमारा मन सामान्यतः बहिर्मुखी है, अतः इष्ट का बाहर या सामने ध्यान करना स्वाभाविक रूप से सरल लगता है। हृदय में ध्यान करने के प्रयास से मन को अन्तर्मुखी करना आसान हो जाता है। मन को अन्तर्मुखी बनाने का यह एक उपाय है। वस्तुतः इष्ट हमारी चेतन आत्मा से भिन्न नहीं है, तथा चरम साक्षात्कार के समय इष्ट और आत्मा का आत्मा में ही मिलन होगा। इस दृष्टि से हृदय में ध्यान करना सत्य के अधिक निकट है।

प्रश्न : ध्यान के निर्देश में पहले गुरु मूर्ति का ध्यान सहस्रार में और इष्ट का ध्यान हृदय में करने को कहा जाता है, उसके बाद गुरु को इष्ट में विलीन करने को कहा जाता है। ऐसा क्यों ?

उत्तर : वस्तुतः इष्ट, गुरु तथा साधक की आत्मा, तीनों एक ही सत्य की तीन अभिव्यक्तियाँ हैं, तीन रूप हैं। लेकिन अभी साधक के लिए ये तीनों भिन्न सत्ताएँ हैं। सहस्रार को गुरु का तथा हृदय को परंपरागत रूप से इष्ट का स्थान माना जाता है। अतः यह निर्देश दिया जाता है कि गुरु को इष्ट में विलीन कर दें। वस्तुतः अनुभूति के समय भी गुरु मूर्ति इष्ट में विलीन हो जाती है।

प्रश्न : लेकिन हम आत्मा का तो चिन्तन नहीं करते और आप कहते हैं कि आत्मा और इष्ट एक होते हैं ?

उत्तर : भक्ति योग में इष्ट के चिन्तन को लेकर आगे बढ़ा जाता है तथा उसका मुख्य उद्देश्य इष्ट का परमात्मा के रूप में साक्षात्कार है। इसके बाद भक्त की सत्ता परमात्मा में लीन हो जाती है।

प्रश्न : कुछ लोग कहते हैं कि ध्यान तो कोई कर ही नहीं सकता। ध्यान तो बस हो जाता है। आपकी क्या राय है ?

उत्तर : यह बात आंशिक रूप से सत्य अवश्य है, क्योंकि वास्तविक ध्यान अत्यन्त दुष्कर है। मन का निग्रह समुद्र को कुश के अग्र भाग से उलीचने के समान कठिन है। लेकिन यह भी सत्य है कि बिना अथक प्रयास के ध्यान संभव नहीं है। वही ठीक-ठीक ध्यान कर सकता है जिसने दीर्घकाल तक, बिना व्यवधान एवं आदर एवं लगन के साथ मन को एकाग्र करने का प्रयत्न किया है। जो लोग यह कहते हैं कि ध्यान तो बस हो जाता है (बिना प्रयत्न के) वे बहुत बड़ी भूल करते हैं। कभी-कभी सभी का मन क्षणभर के लिये अपने आप शान्त हो जाता है—यह ध्यान नहीं है और यह कभी स्थायी भी नहीं होता। हाँ, अगर उनका अर्थ यह है कि भगवत् कृपा से ध्यान हो जाता है, तो इससे हमारा कोई विरोध नहीं है, लेकिन भगवान की कृपा को धारण करने की क्षमता उपर्युक्त प्रकार के सतत् अभ्यास से ही प्राप्त होती है।

प्रश्न : गुरु के द्वारा इष्ट मंत्र का जप ऊँगली पर करने का निर्देश दिया जाता है, जबकि माला से करने में अधिक आनन्द आता है। ऐसे में क्या किया जाय ?

उत्तर : माला से जप करने में कोई बुराई नहीं है. लेकिन माला से जप करने के कुछ नियम हैं. यथा सुमेरु को लांघना नहीं, माला को गले में या खूंटी पर नहीं टाँगना इत्यादि। जिससे उसकी पवित्रता की रक्षा हो सके। इन नियमों की समस्या को टालने के लिये ऊँगली पर जप करने को कहा जाता है। इसका लाभ यह है कि हम अपने हाथ तथा ऊँगलियों का शुभ-पवित्र, ईश्वरीय कार्य में उपयोग करके उन्हें पवित्र बनाते हैं। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद ऊँगली पर जप करना सहज स्वाभाविक हो जाता है और उसमें भी रस मिलने लगता है। अगर साधक माला से जप करना चाहे, तो उसे गुरु द्वारा निर्दिष्ट जप की संख्या को तो कम-से-कम ऊँगली पर जप कर लेना चाहिये। जिससे गुरु के निर्देश की अवहेलना न हो। उसके बाद वह माला से जप कर सकता है।

प्रश्न : योगशास्त्रोक्त "तस्य वाचकः प्रणवः" और "तज्जपः तदर्थ भावनम्" के अनुसार प्रणव जप पर अधिक महत्व क्यों नहीं दिया जाता ?

उत्तर : प्रत्येक साधक का इष्ट अलग-अलग होते हैं। उन्हीं के अनुरूप उनके इस मंत्र तथा जप-विधि ध्यान-विधि भी भिन्न-भिन्न होती है, अतः सभी के लिये प्रणव जप का निर्देश नहीं किया जा सकता। हाँ, उपयुक्त व्यक्ति को प्रणव जप की साधना का निर्देश अवश्य दिया जाता है। फिर 'सोहं संप्रदाय" 'रामायण संप्रदाय' आदि सोहं, राम आदि मंत्र जप पर आधारित सम्प्रदाय हैं, जिनमें उन्हीं मंत्रों को उपासना होती है। उसी तरह प्रणव उपासकों के भी संप्रदाय हैं। दूसरी बात यह भी है कि अनेक मंत्रों के साथ प्रणव बीज रूप में जुड़ा रहता है, यथा ओम् नमः शिवाय, ओम् नमो भगवते वासुदेवाय" इत्यादि। अतः उनमें अलग से प्रणव साधना की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रश्न । सोऽहं, अहंब्रह्मास्मि आदि आत्मा सम्बन्धित मंत्रों से साहस, शौर्य आदि का संचार होता है, लेकिन दासोऽहं से कदाचित दैन्य और दासता का भाव आता है। दोनों की संगति कैसे की जाए।

उत्तर : आपने जो कहा वैसा नहीं है। अहं ब्रह्मास्मि में भी दीनता आवश्यक है, और दासोऽहं से भी साहस शौर्य का संचार होता है। रामायण के लक्ष्मण, हनुमानादि पात्र इसके दृष्टान्त स्वरूप हैं। मैं "राम का दास हूँ" यह भाव उनमें महान साहस और शक्ति का संचार करता था।

वस्तुतः भक्ति मार्ग हो या अहं ब्रह्मास्मि पर आधारित ज्ञान मार्ग दोनों में देह मन रूपी हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व पर आधारित क्षुद्र अहंकार का त्याग अपेक्षित है। ज्ञानी अपने अहंकार को ब्रह्म के साथ एक करता है, तो भक्त उसे भगवान् के साथ जोड़ता है। वास्तविक ज्ञानी अहंकारी कभी नहीं होता। उसमें भी एक भिन्न प्रकार की दीनता होती है। भक्त भगवान के सन्दर्भ में तो अतिदीन होता है, लेकिन उसमें भी एक अन्य प्रकाश का साहस, शौर्य और वीर्य होता है। दोनों में ही हमारे क्षुद्र अहंकार, सीमित देह-मन-बुद्धि के साथ आसक्ति और तादात्म्य का त्याग अपेक्षित है।

युवा मंच

भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता स्वामी विवेकानन्द

—कु० गौरी त्रिवेदी
ग्वालियर

"भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता स्वामी विवेकानन्द" इस विषय के तीन भाग हैं। प्रवक्ता के रूप में स्वामीजी का आकलन, स्वामीजी की दृष्टि में भारतीय संस्कृति का स्वरूप तथा भारतीय संस्कृति को स्वामी जी का योगदान। आइए एक-एक कर इन तीनों बातों पर विचार करें।

किसी भी सत्य का प्रवक्ता होने के लिए व्यक्ति में दो बातों की योग्यता होनी चाहिए—एक प्रामाणिकता तथा दूसरी आधिकारिकता। हम यह दृढ़तापूर्वक कहने में असमर्थ हैं कि स्वामी विवेकानन्द एक 'प्रामाणिक' तथा 'आधिकारिक' प्रवक्ता हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था—"यदि आप भारत को समझना चाहते हैं तो विवेकानन्द को पढ़ें, उनमें सब कुछ सकारात्मक है, नकारात्मक कुछ भी नहीं।" यह कथन स्वामीजी की प्रामाणिकता को सिद्ध करता है। ठीक उसी प्रकार हार्वार्ड विश्वविद्यालय के प्राध्यापक जे० एच० राइट ने कहा था कि "स्वामीजी आपसे अधिकार-पत्र माँगना ठीक वैसा ही है जैसा कि सूरज से उसके चमकने का अधिकार-पत्र माँगना।" इस कथन से स्वामीजी की आधिकारिकता भी सिद्ध हो जाती है।

विवेकानन्द की नजरों से भारतीय संस्कृति को समझना एक स्फूर्तिदायी अनुभव है कारण, उन्होंने संस्कृति को अतीत की मृत वस्तु के रूप में नहीं अपितु मानवता के लिए एक संजीवनी शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। भारतीय संस्कृति का मूल उद्गम 'ऋग्वेद' है। इस काल के भारतीय या आर्यगण स्वभाव से तेजस्वी तथा सुखाकांक्षी थे, परन्तु स्वामीजी कहते हैं कि वे लोग अपने सुख की आकांक्षा को शारीरिक स्तर तक ही सीमित नहीं रख सके। गिरि-गुहा वन अरण्यों के परिवेश ने उन्हें अन्तर्मुखी बना दिया। और जीवन की इस अन्तर्मुखी पद्धति के फलस्वरूप उस दार्शनिक चिन्तन का प्रादुर्भाव हुआ जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं। विवेकानन्द के अनुसार यह दर्शन और अध्यात्म ही भारतीय संस्कृति की आत्मा है, उसका मुख्य स्वर है जो अन्य संस्कृतियों से उसे पृथक करता है। स्वामीजी के अनुसार भारत न केवल उस चिड़िया के समान है जिसके पंख सोने के हैं अपितु उसका मस्तिष्क भी शाश्वत विचारों का खजाना है। आर्यों के अभीप्सु और जिज्ञासु हृदय ने इन्द्रियातीत अनुभूति के आलोक में जीवन व जगत को जिस रूप में देखा वह भारतीय संस्कृति का आधार है। और उसके अनुरूप जीवन को जैसा गढ़ा वही उसका प्रारूप है। इस अर्थ में भारतीय संस्कृति अनुभूति परक है चिन्तन परक नहीं। अनुभूति के उच्च शिखर पर आरुढ़ होकर वैदिक ऋषियों ने एक ऐसे स्वयं-भू सत्य का साक्षात्कार किया जो अपनी आत्मशक्ति से विविध रूपों में प्रकाशित हो रहा है। अतः उन्होंने घोषित किया

"एकम् सत् विप्रा बहुधा वदन्ति, ईशावास्यमिदम् सर्वम्" अर्थात् जगत् के रूप में जो कुछ भी है वह एक ईश्वर ही है। और उसे अपने जीवन में संसिद्ध करना तथा विश्व को समझाना ही भारतीय संस्कृति है। इसी कारण स्वामीजी ने कहा है कि "जब तक भारत अपनी ईश्वर की खोज में लगा रहेगा तब तक वह जीवित रहेगा अन्यथा वह नष्ट हो जाएगा। इस सत्य के प्रकाश में कार्य और कारण की अभेदता, पदार्थ और ऊर्जा की एकता, वसुधैव कुटुंबकम् की मान्यता, जन कल्याण की भावना, सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की कल्पना तथा समन्वय और सहिष्णुता का सिद्धांत आदि कुछ भारतीय संस्कृति की सहज विशेषताएँ हैं। विवेकानन्द का कहना है कि जब किसी संस्कृति को समझना हो तो हम देखें कि उसमें 'मनुष्य' और 'मनुष्यत्व' की उच्चतम अवधारणा क्या है। भारतीय संस्कृति के अनुसार मनुष्य पशु नहीं ईश्वर का अंश है, वही सभी समस्याओं के समाधान की कुंजी है। स्वामीजी के अनुसार 'मनुष्य' को जानकर ही सृष्टि के रहस्य को समझा जा सकता है और 'मनुष्य' को उत्कृष्ट अवस्था पर पहुँचाकर ही सभी समस्याओं को हल किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार मनुष्य की अवधारणा दिव्यत्व की तथा इसकी उन्नति की धारणा संतत्व की है। यहीं पर भारतीय संस्कृति को स्वामी विवेकानन्द का योगदान हमारे सामने आता है। विवेकानन्द का कहना है कि कोई भी संस्कृति जो विशेषता प्रधान नहीं होगी वह अपूर्ण ही मानी जाएगी। इस दृष्टि से भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही संस्कृतियाँ अधूरी और अपूर्ण हैं। भारतीय संस्कृति ने 'मनुष्य' को इकाई माना है जबकि पाश्चात्य संस्कृति 'समाज' को इकाई मानती है। एक ने 'समूह' की उपेक्षा की है तो दूसरी ने 'व्यक्ति' की। एक ने जीवन के बाहरी-पक्ष की अनदेखी की है तो दूसरी ने भीतरी-पक्ष की। एक ने 'संख्या' पर बल दिया है तो दूसरी ने 'गुणवत्ता' पर। पश्चिमी संस्कृति 'मनुष्यत्व' पर बल देती है जबकि भारतीय संस्कृति 'संतत्व' पर। आज आवश्यकता इस बात की है कि 'व्यक्ति' और 'समाज' दोनों में पूर्णता लायी जाए। स्वामीजी की स्पष्ट घोषणा है कि आन्तरिक परिवर्तन के बिना बाह्य परिवर्तन कभी भी संभव नहीं और साथ ही वे कहते हैं कि समाज का तिरस्कार करते हुए व्यक्तिगतपूर्णता का लक्ष्य कभी नहीं पाया जा सकता।

गंगा भारतीय संस्कृति की एक उपयुक्त प्रतीक है। गंगा जिस प्रकार अपने मूल उद्गम गोमुख से निकलते समय जल की एक पतली धारा के समान होती है, परन्तु अपने मार्ग से असंख्य नद-नालों से जल-ग्रहण करती हुई विशाल और बेगवती बन जाती है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति को भी आज अपनी समन्वयी और स्वांगीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ाते हुए एक सम्पूर्ण-समग्र विश्व संस्कृति बनने की दिशा की ओर उन्मुख होता है।

आधुनिकता की चपेट में आकर आज हम पर्यावरण-प्रदूषण को दूर करने के लिए प्रकृति के बाह्य नियंत्रण में लगे हुए हैं। परन्तु स्वामीजी का स्पष्ट संदेश है कि प्रकृति के अन्तः नियंत्रण के बिना बाह्य नियंत्रण घातक ही सिद्ध होगा। जैसा कि आज हम देख रहे हैं कि अन्तः बाह्य प्रकृति के नियंत्रण से ही जीवन सुन्दर और सबल बन सकता है। "सार्वभौमिकता" भारतीय संस्कृति की मूल भावना है। जो अतीत की अतिशयता के पक्षधर हैं वे विवेकवान मूर्खों के समान हैं तथा जो आधुनिकता की अतिशयता में विश्वास करते हैं वे बुद्धिमान मूर्खों के समान हैं। स्वामी विवेकानन्द हम से अपेक्षा करते हैं कि हम अतीत

और आधुनिक का समन्वय कर विवेकवान बुद्धिमान बनें जो भारतीय संस्कृति की स्वाभाविक नियति तथा सुसंगत परिणिति हैं। जैसे कि उनके उद्‌गार हैं— क्या भारत मर जाएगा ? तब तो संसार से सारी आध्यात्मिकता का समूल नाश हो जाएगा, सारे सदाचार पूर्ण आदर्श जीवन का विनाश हो जाएगा, धर्मों के प्रति सारी सहानुभूति नष्ट हो जाएगी और उसके स्थान पर कामरूपी देव और विलासिता रूपी देवी राज्य करेगी, धन पुरोहित होगा, प्रतारणा पाशविक बल और प्रतिद्वन्दिता ये ही उनकी पूजा पद्धति होगी और मानवता उनकी बलि सामग्री हो जाएगी।

अत: स्वामीजी का कहना है कि भारत के कल्याण में ही विश्व का कल्याण है और विश्व के कल्याण में ही भारत का कल्याण निहित है। ऐसी विश्व कल्याणकारी भारतीय संस्कृति और उसके प्रभावी प्रवक्ता विवेकानन्द को शत् शत् नमन् !

चार आदर्श पुरुषार्थ

वेदों के दो विभाग हैं; कर्मकांड और ज्ञानकांड के प्रतिपादनस्वरूप पालन करके मानव-साधक भौतिक सुख-साधन की प्राप्ति एवं उपभोग-प्रेय एव श्रेय की प्राप्ति, क्रमश: कर सकता है। वैदिक दृष्टा ऋषियों ने चार पुरुषार्थो का भी उल्लेख किया है, जो मानवीय पुरुषार्थ हेतु उच्च साधन है जो साध्य स्वरूप है। ये मनुष्य के कर्मों की कुदान (Springs) हैं, जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के नाम से जाने जाते हैं।

धर्म धर्मपरायणता है; यह मनुष्य के कर्मों का आधार एवं अन्तर-प्रगति का नियम है। यह मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के साथ समन्वयात्मक है। इसीलिए जो धर्म पालन करता है, वह समस्त कर्मों में सफलता प्राप्त कर लेता है। जो धर्मपरायणता, धर्म पालन में च्युति करता है, उसके जीवन में व्याकुलापूर्ण गड़बड़ी पाई जाती है एवं उसकी प्रगति की चक्री का चक्का जाम हो जाता है। धर्म कोई (इस प्रकार का) बाहर से थोपा हुआ कर्त्तव्य नहीं है, परन्तु यह तो सदाचार; पूर्णता, स्थिरता, आदरभाव की चेतना की भाववृत्ति होती है, जो मनुष्य को उसके पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार प्राप्त होता है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि हरेक मनुष्य का (अपनाधर्म) स्वधर्म होता है, जिसके फलस्वरूप वह बाह्य-जगत में, अपने विशेष प्रकार से, बरताव करता है। शिक्षा और बाह्य वातावरण, उसके मूल जीवन को केवल बाहरी तौर पर ढालते हैं। अपने धर्म का पालन करते हुए मनुष्य पूर्णता के पथ पर उन्नति करता, आगे बढ़ता जाता है, जब तक कि वह उच्चतम धर्म, 'सत्य साक्षात्कार' तक नहीं पहुँच जाता।

अर्थ या धनोपार्जन का कार्य अपने आप में, मनुष्य जीवन में एक विशेष समय पर, एक उचित (नियमानुसार) लक्ष्य की प्रवृत्ति है, खोज है। अधिकतर मनुष्यों के लिए, स्वयं के आत्म प्रदर्शन का यह एक प्रभावशाली साधन है, दूसरे शब्दों में मनुष्य अपने विशेष-विशेष चरित्र कार्य-कलापों का प्रदर्शन धन के माध्यम द्वारा प्रकट करता है एवं इसके द्वारा वह अपने साथियों से मित्रता स्थापित करने में इसे महत्वपूर्ण पाया जाता है। परन्तु धन का उपार्जन धर्माचरण द्वारा, ईमानदारी से करना आवश्यक है; नहीं तो आध्यात्मिक उद्देश्य की अपेक्षा मनुष्य लोभी और काम, इच्छाओं का शिकार हो जाएगा जो उसके लिए अन्ततोगत्वा शोक एवं विनाश का कारण हो जाएगा।

काम के द्वारा मनुष्य अपनी इन्द्रियजन्य एवं ललित कला एवं सौन्दर्य सम्बन्धी कामनाओं को पूर्ण करता है। कई कोमल हृदय व्यक्ति (चेतन) जो अर्थ भोग केवल स्थूल पक्ष को, भौतिक रूप में अपनी इन्द्रिय सुखानन्द की पूर्ति में ही लक्ष्य मानते हैं, ऐसे लोग इस प्रकार धन रूपी पुरुषार्थ का ठीक से उपयोग नहीं करते। काम को भी यदि धर्म द्वारा मार्गदर्शन न दिया गया तो यह मनुष्य को भोग-विलासिता की ओर ले जाकर पतित करता है।

धर्म अर्थ एवं काम की प्रवृत्तियों के उपशम द्वारा हमें जो संतोष प्राप्त होता है वह न तो गहन और न टिकाऊ (स्थाई) होता है। मानव में (आत्मभाव) आत्मप्रवृत्ति, आम तौर पर पाई जाती है, जिसमें उसे विशेषकर खालीपन का अनुभव होता है, उस खालीपन को भरने का उपाय मोक्ष प्राप्ति है। यही मुख्य एवं अंतिम पुरुषार्थ है। पहले तीन—धर्म, अर्थ और काम रूपी पुरुषार्थ भौतिक जगत से सम्बन्ध रखते हैं, उनसे सुख की प्राप्ति होती है विनाशशील, अल्पकालिक एवं मायावी। परन्तु यदि हमें मोक्ष का, आदर्श का साक्षात्कार करना है तो वह केवल आध्यात्मिक जगत की वस्तु होगी; उससे जो आनन्द की प्राप्ति होगी, वह अविनाशी, शाश्वत होगी। इसीलिए मोक्ष प्राप्ति ही मानव जीवन का सच्चा आधार है; एवं धर्म, अर्थ और सौन्दय-साधन एव कामनाओं से जो संतुष्टि प्राप्त होती है, वे केवल साधन रूप में सहायक सिद्ध होगी।

●

जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे पहले उनकी सन्तानों की—इस संसार के सारे जीवों की सेवा करनी चाहिए। शास्त्रों में कहा है कि जो भगवान् के सेवकों की सेवा करते हैं, वे भगवान् के सब से बड़े सेवक हैं। निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है। जिसमें इस निःस्वार्थता की मात्रा अधिक है, वह अधिक आध्यात्मिकता-सम्पन्न है और शिव के अधिक निकट है। और यदि कोई स्वार्थी है, तो फिर चाहे उसने सारे मन्दिरों के ही दर्शन क्यों न किये हों, सारे तीर्थों में ही क्यों न घूमा हो, अपने को चीते के समान क्यों न रंग डाला हो, परन्तु फिर भी वह शिव से बहुत दूर है।

—स्वामी विवेकानन्द

डाक पंजीयित संख्या - सी.एच.पी. १४-८३
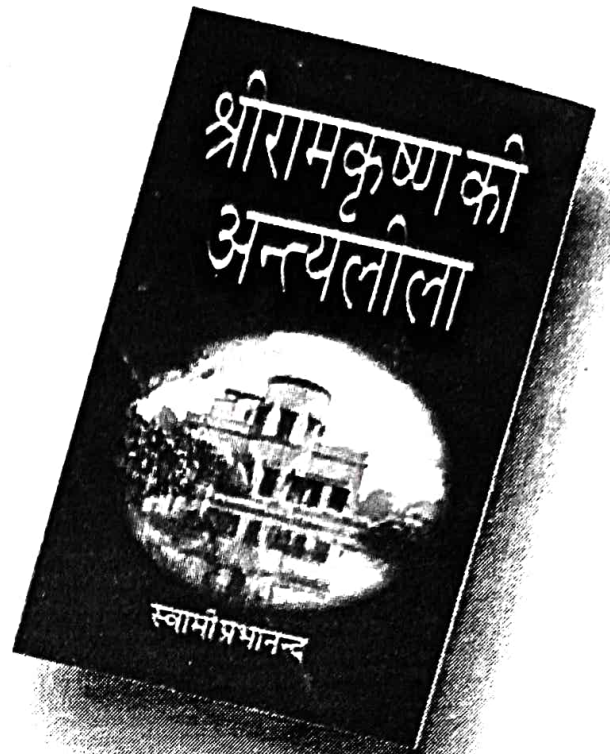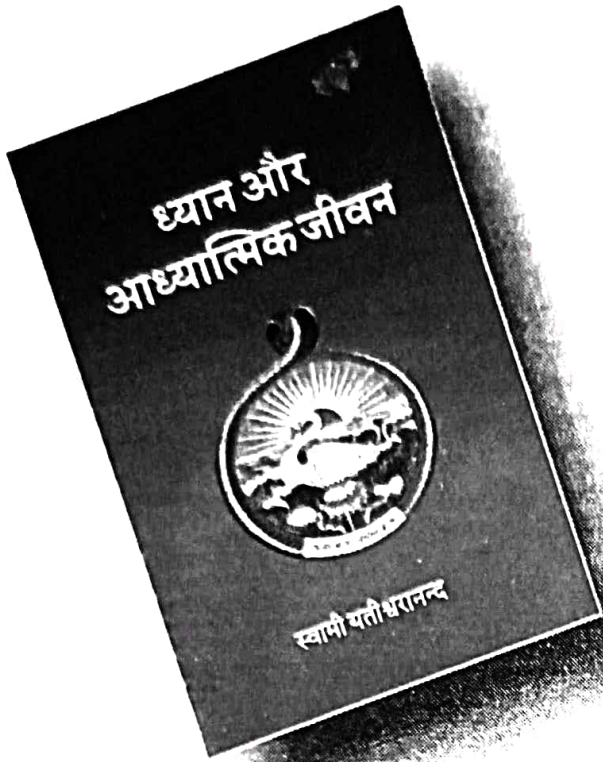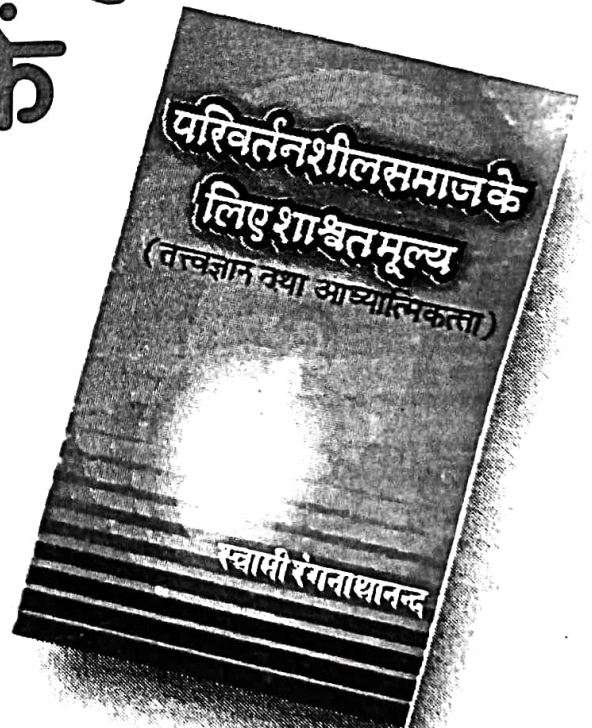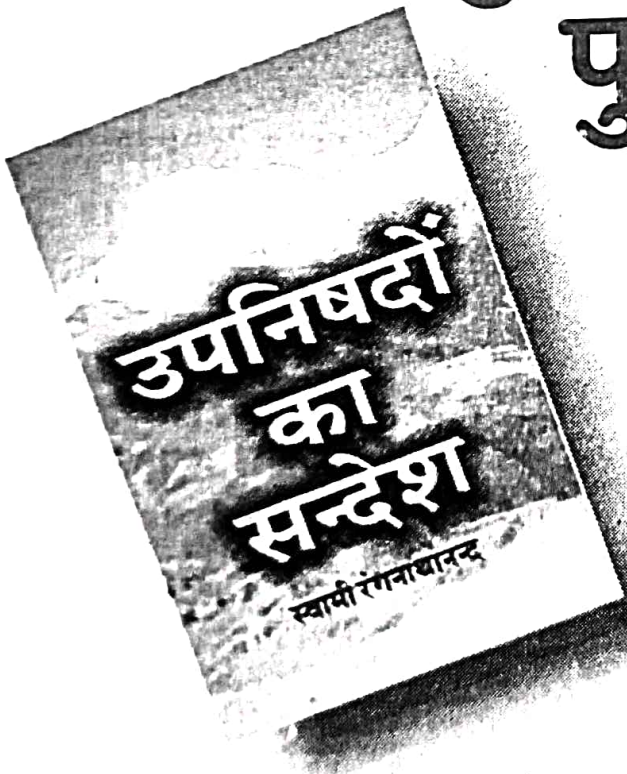
श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं शिवशक्ति प्रिण्टर्स, सैदपुर, पटना-४ में मुद्रित।
सम्पादक : डॉ केदारनाथ लाभ